16/8

जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 8 • अगस्त, 2005

With best compliments from :

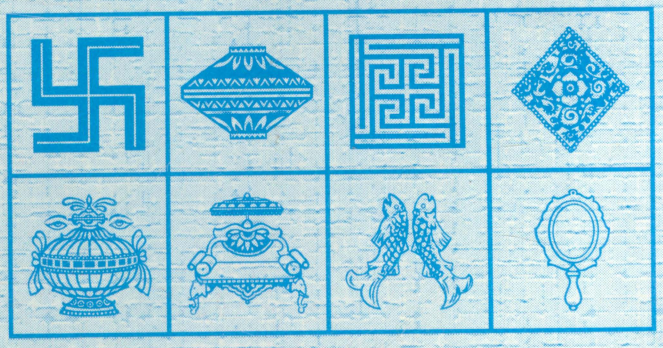

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • अगस्त, 2005 • अंक 8

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
स्वतंत्रता : व्यक्ति का आत्मानुशासन

14
प्रो. दयाकृष्ण
अनंत की प्राप्ति : अंतहीन प्रक्रिया

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

21
युवाचार्य महाश्रमण
दुख-मुक्ति के आठ आधार

24
श्रीमन्नारायण
निष्काम कर्म : भौतिक-आध्यात्मिक विकास का आधार

27
मुनि धर्मचंद 'पीयूष'
अच्छे विचार : शक्ति के अजस्र स्रोत

30
कहानी
मिथिलेश्वर
जी का जंजाल

38
कविता
कुंवर नारायण की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
जीवन-कल्प

शीलन

41
मुनि राकेशकुमार
स्वतंत्रता का सूत्रधार : जैन धर्म-दर्शन

44
साध्वी श्रुतयशा
आध्यात्मिक साम्यवाद के प्रवर्तक श्रीमज्जयाचार्य

47
साध्वी सिद्धप्रज्ञा
अनगारता : आत्म-स्वातंत्र्य के लिए

51
मुनि कुमुदकुमार
जीवन का उत्तरार्द्ध : आत्मविकास का अवसर

53
बालकथा
विष्णु प्रभाकर
राजा की बेटी से शादी

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

सामजी और रामजी

बूंदी निवासी सामजी और रामजी दोनों भाई सरावगी थे और जाति से बैद। वे दोनों एक साथ जन्मे हुए थे। उनकी आकृति और सूरत भी एक जैसी थी। वे केलवा में स्वामीजी के पास दीक्षा लेने आए। सामजी ने वहां दीक्षा ले ली। यह संवत् 1838 की बात है।

कुछ दिनों बाद नाथद्वारा में बहुत वैराग्य और बड़े उत्सव के साथ खेतसीजी स्वामी और रंगुजी ने एक साथ दीक्षा ली। जिन-मार्ग का बहुत उद्योत हुआ।

फिर कुछ दिनों बाद रामजी स्वामी ने दीक्षा ली। सामजी खेतसीजी स्वामी से दीक्षा-पर्याय में बड़े थे और रामजी छोटे थे। कुछ समय बाद सामजी और रामजी का सिंघाड़ा बनाया। वे अलग विहार कर स्वामीजी के दर्शन करने आए। तब खेतसीजी स्वामी ने सामजी के बदले रामजी को वंदना की, क्योंकि वे दोनों ही एक जैसे लग रहे थे। तब रामजी ने कहा—'मैं रामजी हूं, सामजी तो वे हैं।' वह घटना बहुत बार घट जाती।

तब स्वामीजी ने अपनी निर्मल मति से कहा—'रामजी! तुम पहले खेतसीजी को वंदना किया करो। तब खेतसीजी अपने-आप जान लेगा कि जो ये खड़े हैं, वे सामजी हैं। ऐसी थी निर्मल प्रज्ञा स्वामीजी की।

जो ठंडी रोटी छोड़े, वह लड्डू भी छोड़े

कोटा वाले आचार्य दौलतरामजी के संप्रदाय के चार साधु—वर्धमानजी, बड़ो रूपजी, छोटो रूपजी, सूरतोजी—स्वामीजी के संघ में दीक्षित हो गए। छोटा रूपजी बोले—'मुझे ठंडी रोटी नहीं रुचती।'

तब स्वामीजी ने आहार का संविभाग किया और प्रत्येक ठंडी रोटी पर एक-एक लड्डू रख दिया और कहा—'जो ठंडी रोटी छोड़े, वह लड्डू भी छोड़ दे। जो गरम रोटी लेगा, वह लड्डू नहीं ले पाएगा।' तब सबने दीक्षा-पर्याय के क्रम से अपना-अपना विभाग ले लिया। किसी ने ठंडी या गरम की चर्चा ही नहीं की। •

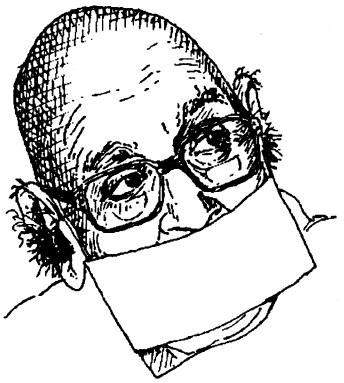

श्रावक गृहत्यागी साधु नहीं है। वह घर में रहता है, परिवार के साथ रहता है। जीवनयापन के लिए उसके सामने हिंसा की अनिवार्यता रहती है। अहिंसा में उसका विश्वास होता है। उसका प्रस्थान अहिंसा की ओर हो सकता है। फिर भी हिंसा के बिना उसका काम नहीं चलता। आवश्यक होने पर भी, हिंसा सदा हिंसा ही रहती है। आवश्यकता के आधार पर हिंसा को अहिंसा नहीं माना जा सकता। इस तथ्य को समझाने के लिए ग्रंथकार ने एक व्यावहारिक उदाहरण दिया है। कौवा काला होता है, वह सदा काला ही रहेगा। सैकड़ों-हजारों कौवे मिलकर भी सफेद नहीं हो सकते। इसी प्रकार जीव हिंसा किसी भी प्रयोजन से की जाए, वह कभी अहिंसा नहीं हो सकती। हिंसा को अहिंसा मानना दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। गृहस्थ की भूमिका में श्रावक द्वारा की जाने वाली हिंसा आश्चर्य का विषय नहीं है। आश्चर्य की बात है आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानने का आग्रह।

—आचार्य तुलसी

इस दुनिया में सबसे अधिक गतिशील मन को माना गया है। मन में विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। बाहर से व्यक्ति उपासना में लीन है, पर मन में वासना का चक्र चलता रहता है। बाहर से व्यक्ति भजन करता है, पर भीतर में भोजन चलता रहता है। मन का संचालक है—भाव। भीतर में विद्यमान भाव मन को चलाता है। इसीलिए साधक को भावशुद्धि की साधना करनी चाहिए।

मन की एकाग्रता से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है—भावों की निर्मलता। मन की एकाग्रता गलत और अनैतिक कार्य करने वाले में भी मिल सकती है, पर वहां भाव निर्मल नहीं होते। कार्य का फल भी भावों के आधार पर ही प्राप्त होता है। दो व्यक्ति समान क्रिया करते हैं, पर भावों की शुभाशंसा से फल में अंतर आ जाता है। इसीलिए साधना के लिए भावशुद्धि एक अनिवार्य शर्त है।

—युवाचार्य महाश्रमण

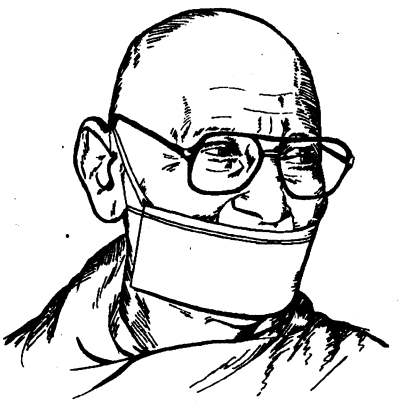

अहिंसा अध्यात्म का एक प्रयोग है। वह आध्यात्मिक चेतना के जागरण के लिए जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही समाज के लिए उपयोगी भी है। हिंसा का अर्थ किसी व्यक्ति को मारना ही नहीं है। लड़ाई, झगड़ा और कलह करना भी हिंसा है। दोषारोपण, चुगली, निंदा—ये सब हिंसा के प्रकार हैं। आर्थिक और व्यावसायिक अप्रामाणिकता भी हिंसा है। इनका समावेश संकल्पजा हिंसा की कोटि में होता है। स्वस्थ समाज के लिए इन सबका वर्जन अत्यंत आवश्यक है। भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त 'अहिंसा-अणुव्रत' की व्यवस्था बहुत व्यापक है। 'अहिंसा-अणुव्रत' स्वस्थ समाज की रचना का एक प्रयोग है।

इसी आधार पर अहिंसा पर आधारित जीवनशैली का प्रयोग किया गया और इसी आधार पर व्रती समाज की संरचना की गई। अव्रती समाज हिंसा और संग्रह—इन दोनों से प्रभावित होता है और वह हिंसा से उपजने वाली असीम आकांक्षा या संग्रह से उपजने वाली समस्याओं से घिरा रहता है और नई समस्याएं भी पैदा करता है।

भगवान महावीर ने अहिंसा और असंग्रह की पुष्टि के लिए उपभोग के व्रत की व्यवस्था की। उपभोग की सीमा किए बिना अर्थार्जन में शुद्ध साधन की स्थिति का निर्माण नहीं होता। उसके बिना नैतिकता के प्रश्न का समाधान नहीं होता। भगवान महावीर के व्रती समाज में पांच लाख से अधिक स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए। उनका आध्यात्मिक जीवन विकसित हुआ। उसके साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आया।

महावीर के काल के बाद आज भी व्रती समाज की कल्पना बहुत सार्थक है। इस दिशा में उठने वाला कदम व्यक्ति और समाज—दोनों के जीवन को नई दिशा देने वाला होगा।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

जीवन-कल्प

कहते हैं आषाढ़ शुक्ला एकादशी को देव सो जाते हैं। इसीलिए यह तिथि देवशयनी एकादशी कहलाती है। इसके चार-पांच दिन बाद सावन मास शुरू हो जाता है और चार माह की अवधि को वर्षा ऋतु के रूप में माना जाता है। ये चार महीने ऐसे होते हैं जिनमें कुछ काम वर्जनीय होते हैं, तो कुछ काम इसी अवधि में किए जाने का महत्त्व है। हम अपने लोक-व्यवहार में यदि जाएं तो यही अवधि है, जब धरती मां का पेट फूटता है। अन्नदाता कहा जाने वाला किसान अपने खेत में अपने पसीने से मां वसुंधरा को सींचता है और प्रकृति भी इसी अवधि में सर्वाधिक तुष्टमान होती है। वर्षा के जल-कणों से जब यह धरती भीगती है तो हरियल कोंपल फूटती है। इस तरह सावन मास संपूर्ण जीव-जगत के लिए जीवनदायी बनकर आता है।

सावन में एक दूसरा रूप भी हमारे सामने उभरता है। संत-महात्मा, योगी-संन्यासी इस अवधि में स्थिरवासी हो जाते हैं। चार माह की अवधि में उनका एक ही क्षेत्र-वास होता है (कुछ दो माह का क्षेत्र-वास भी मानते हैं) और इस अवधि में उनकी साधना के अलग-अलग सोपान तय हो रहते हैं। चार माह का स्थिर क्षेत्र-वास एक तरह से उनका जीवन-कल्प होता है। तीन सौ पैंसठ दिन के वर्षकाल में जो कुछ हुआ, किया जाता है—उसकी तुलना में चार माह की यह अवधि उनके लिए विशिष्ट माहात्म्य की होती है। साधनारत योगीजन इस अवधि का भरपूर लाभ लेते हैं।

हम पुनः लोक-व्यवहार की ओर लौटते हैं। सावन मास ऋतु-शृंगार का काल भी है। प्रकृति अपने पूरे उभार पर होती है। तीज-त्यौहारों का यह महीना अनेक रूपों में हर वर्ग के लिए कोई-न-कोई अनुष्ठान लिए होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण दिन होता है श्रावणी का, रक्षाबंधन का। कहते हैं—इसी दिन ब्रह्म की आकांक्षा पूरी हुई थी—'एकोऽहं बहुस्याम'—एक से दो और दो से अनेक, यानी समत्व का संदेश यही सावन मास हमें देता है। रक्षाबंधन का पर्व उस परंपरा से हमें जोड़ता है, जिसमें मर्यादा और दायित्वबोध, कर्तव्य और परस्परता का दिव्य संदेश मिलता है। ज्ञान और कर्म का यथेष्ट संगुंफन रक्षाबंधन का मर्म माना जा सकता है। प्रेम, सौहार्द और सह-अस्तित्व के प्रति हमें यह पर्व जाग्रत करता है।

यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि यह मास एक प्रकार से आध्यात्मिक जागरण का काल है। खेत में काम कर रहे हलधर की श्रम-साधना से जहां हमें प्रवृत्ति का पवित्र संदेश मिलता है, वहीं एक साधक की योग-साधना से निवृत्ति का संदेश भी साथ-ही-साथ प्राप्त होता है। इस तरह हम पाते हैं कि यह महीना बहुविध दृष्टि से अपना महत्तम लिए हुए है। सावन मास में ही इस बार '15 अगस्त' का दिवस आ रहा है। भारतीय मानस पटल पर इस दिन का स्वर्णिम महत्त्व है। दासता, गुलामी और परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त होकर हम इसी रोज स्वतंत्र हुए थे। सन् 1947 का 15 अगस्त का दिन आज भी जब हम स्मरण कर उस रोज की घटना को याद करते हैं तो एक रोमांच-सा उठता है। आजादी के आंदोलन में शहीद हुए जांबाजों का स्मरण होता है और याद आती है महात्मा गांधी की, 'करो या मरो' की हुंकार की। 9 अगस्त को दी गई वह चेतावनी—'अंग्रेजों भारत छोड़ो'—का चुनौतीभरा नारा कभी भुलाया नहीं जा सकता। ये सभी तिथियां सावन मास में इस बार आई हैं। तो क्या, किसी नव-जागरण और स्फूर्ति का संदेश हमें मिल रहा है?

देश के आजाद होने के साथ ही महात्मा गांधी ने संकल्प प्रकट किया था कि अभी एक संघर्ष बाकी है। गुलामी की बेड़ियों से मुक्त होने के लिए मानसिक दासता से मुक्त होना अभी अवशेष है। देश में व्याप्त बेकारी, बेरोजगारी, अशिक्षा, बदहाली से संघर्ष शेष था। सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता के लिए गांधी ने देश में बिगुल भी बजा दिया था। आज लगता है कि उनकी वह आवाज 'नक्कारखाने में तूती' की मानिंद ही रही। आजादी के इन 57-58 सालों में हम वहीं हैं, जहां तब खड़े थे, जब गांधी ने इनसे मुक्त होने का आह्वान किया था।

यही वजह है कि हम राजनीतिक स्वतंत्रता तो भोग रहे हैं, पर साथ ही मानसिक परतंत्रता अभी भी भुगत रहे हैं। हम स्वतंत्र हैं, पर हमारी आत्मा परतंत्र है। आत्म-स्वातंत्र्य के लिए हमारा अभिक्रम अभी उस सीढ़ी तक नहीं पहुंच सका है, जहां पहुंच जाने का संकल्प गांधी का था और उस दिशा में उनके कदम तब उठे थे। फिर भी यह कहना तो संगत न होगा कि गांधी के कदम जहां उठे थे, वहीं थम कर रह गए। पर, यह भी स्वीकार करना होगा कि वैसी गति नहीं पकड़ी जा सकी कि आत्म-स्वातंत्र्य की मंजिल पाई जा सके।

वे कदम थमे नहीं हैं, इसकी पुष्टि तो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के इस कथन से ही होती है। वे कहते हैं—'…आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति से प्रताड़ित है। वह बाहर से अर्थ का ऋण ही नहीं ले रहा, चिंतन का ऋण भी ले रहा है। उसकी शक्तिहीनता का यह स्वतःस्फूर्त साक्ष्य है। मेरी आदिम, मध्यम और अंतिम आकांक्षा यही है कि मैं आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने में अपना योग दूं'।

कथनी और करनी में सदा एक-रूपी, एकमेक रहे आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपनी साधना में रत रहते हुए 'भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने' में भी योगभूत हैं। यूं तो उनका संपूर्ण 'जीवन-कल्प' ही इसका प्रमाण है, पर उनकी 'अहिंसा यात्रा' इसका ताजा उदाहरण है। सुजानगढ़-लाडनूं (राजस्थान) से 5 दिसंबर, 2001 को इसके लिए जो चरण उठे तो अविराम वे बढ़ते ही रहे। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश होकर इस यात्रा ने पुनः राजस्थान से होते हुए भारत की राजधानी दिल्ली की ओर कूच किया और इस समय अध्यात्म साधना केंद्र, दिल्ली में इसका पड़ाव है। अहिंसा यात्रा का लक्ष्य है—अहिंसक चेतना का जागरण और नैतिक मूल्यों का विकास।

जन-जन को 'प्रत्यक्षानुभूति' की ओर ले जाने का आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का सपना कितना फलीभूत होता है—उनका क़ाम यह देखना नहीं, जितना कि इस ओर प्रतिबद्ध हो अग्रसर होना है। वे जन, जो उनके प्रति निष्ठाशील और समर्पित हैं, विचारणीय उनके लिए है कि वे इसके लिए कितने प्रतिबद्ध हैं?

अहिंसक चेतना का जागरण और नैतिक मूल्यों का विकास तो अन्योन्याश्रित है। पर, इसके लिए जिस 'जीवन-कल्प' की जरूरत है—प्रश्न उसका है, और यह सही अवसर है कि इस दिशा में वे सभी जन प्रमुखतः अग्रसर हों जो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सपने को सच में बदलना चाहते हैं। सावन मास और इस काल में आ रहे अनुष्ठान—रक्षाबंधन और स्वतंत्रता दिवस—इन सबको, वास्तविकता में परिणत कर देने की अभीप्सा-भर से नहीं, अब ऐसी प्रतिबद्धता प्रकट करनी होगी जो कथनी-करनी से विरत हो फलदायी सिद्ध हो सके।

—शुभू पटवा

विमर्श

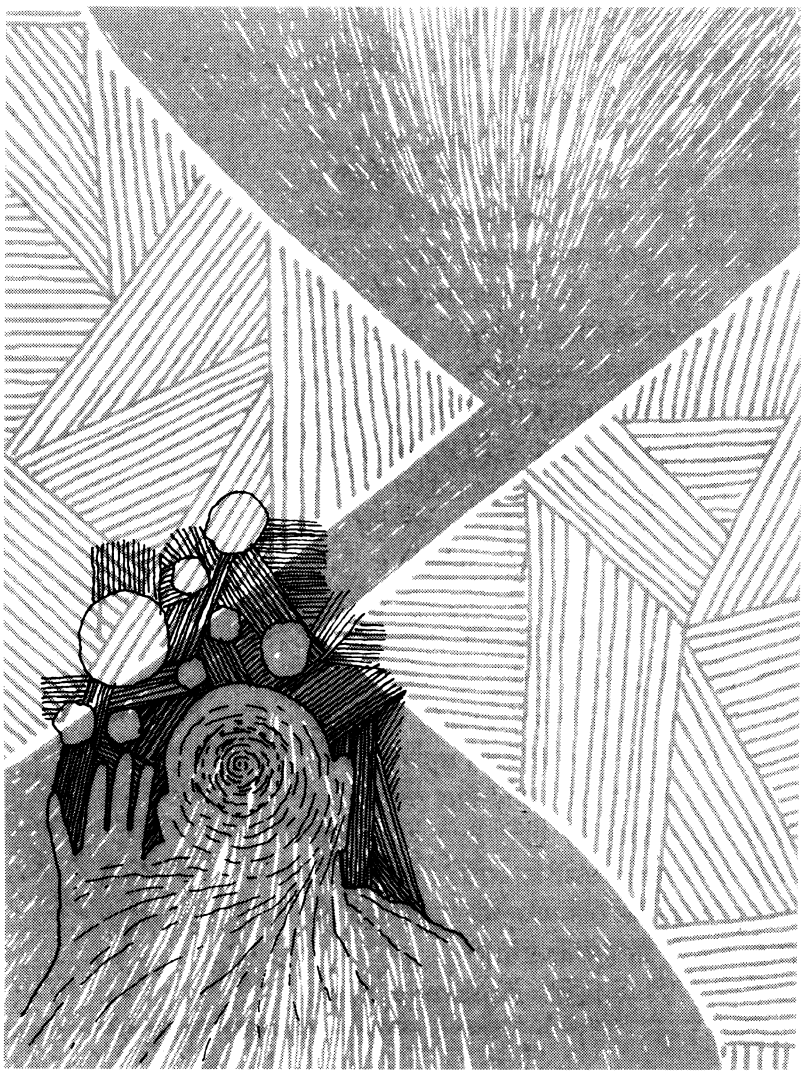

जिस अंश तक आदर्शवाद मानसिक संसार की स्वायत्तता का दावेदार है, हम उसे मानते हैं। मानव-मस्तिष्क की सृजनात्मकता को अस्वीकार किए बिना विचारों के वस्तुगत यथार्थ के विरुद्ध आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। एकात्मवाद सख्ती से इतिहास पर लागू नहीं किया जा सकता। यदि आप इतिहास को केवल आर्थिक दृष्टि से देखते हैं तो वह उसका एक रूप है। इतिहास का अध्ययन समस्त मानव-विकास—मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक—सभी को एक साथ मिलाकर करना चाहिए। हमें विचारों और भौतिक घटनाओं की समानांतर धाराओं को देखना चाहिए। स्थापित आर्थिक संबंधों से जोड़कर जब हम एक विचार रखते हैं तो यह उन्हें सिर के बल खड़ा करने के समान है। इतिहास का यह अनुभव है कि एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के पूर्व उसका सिद्धांत विकसित होता है। नए विचारों से पुराने स्थापित आर्थिक संबंधों को नष्ट करके उनके स्थान पर नए संबंधों को बनाने की प्रेरणा मिलती है। कार्ल मार्क्स ने भी इसको अस्वीकार नहीं किया है। अतः हमें इस सवाल का जवाब देना है : किस प्रकार क्रांतिकारी विचार विकसित होता है? नई व्यवस्था का विचार पुरानी व्यवस्थाओं से उत्पन्न होता है। यह कहने का तात्पर्य यह है कि विचारों का स्वयं अपना इतिहास होता है। नए विचार अथवा सिद्धांत की उत्पत्ति और नवीन सामाजिक वर्ग की उत्पत्ति आकस्मिक नहीं है, जो यों ही अपने-आप हो जाय। नया सिद्धांत मानव के विकास की आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। उसी आकांक्षा के आधार पर सामाजिक गतिशीलता उत्पन्न होती है और उसके अनुरूप नया वर्ग पैदा होता है जो नए सिद्धांत का औचित्य स्वीकार करके उसको कार्य रूप में लाने के लिए आगे बढ़ता है।

—एम.एन. राय

लोकतंत्र को चिरायु बनाने के लिए दो दिशाओं पर विशेष गौर करना जरूरी है। हिंसा और परिग्रह के प्रति जनता का दृष्टिकोण बदले—शिक्षा के साथ ऐसा प्रशिक्षण चले। वर्तमान में शिक्षा केवल व्यवसाय, शिल्प, यांत्रिक विकास और शारीरिक स्वास्थ्य के साथ जुड़ी हुई है। उसका मार्ग बदलना आवश्यक है। उसका प्रवाह केवल जीविका की ओर है, वह जीवन की ओर भी मुड़े। आर्थिक स्पर्धा और सुविधावादी दृष्टिकोण ने अपनी जड़ें गहरी जमा ली हैं। उनका उन्मूलन करना संभव नहीं है, किंतु चेतना की उर्वरा में यदि हिंसा और परिग्रह की सीमा के बीज बोए जाएं, तो एक स्वस्थ विकल्प प्रस्तुत हो सकता है। लोकतंत्र को उसकी बहुत अपेक्षा है। अणुव्रत का प्रयत्न इस दिशा में चले और वह शिक्षा-जगत् को भी अपना सहभागी बना सके तो मानवता का भविष्य उज्ज्वल होगा।

स्वतंत्रता : व्यक्ति का आत्मानुशासन

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

वर्तमान युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चर्चा सर्वाधिक होती है। मनु ने लिखा—सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं—जो कुछ है परवश, वह दुख है और जो-कुछ है स्वतंत्र, वह सुख है। एक सूत्र बन गया—स्वतंत्र रहकर रूखा-सूखा खाना भी अच्छा है, परतंत्र रहकर चुपड़ा हुआ खाना भी अच्छा नहीं है। हम लोकतंत्र में जी रहे हैं। कोई भी व्यक्ति रोटी के लिए परतंत्र नहीं बनना चाहता। वह चाहता है कि रोटी भी मिले और व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी सुरक्षित रहे। दोनों साथ-साथ मिलें।

स्वतंत्रता का मूल्य अनिर्वचनीय है। सामाजिक, आर्थिक या व्यावहारिक क्षेत्र में दो प्रयोग चले—साम्यवाद का प्रयोग और लोकतंत्र का प्रयोग। साम्यवाद में व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर नियंत्रण रहता है। उसमें निजीकरण की बात को समाप्त कर दिया गया। वहां सामुदायिक रीति-नीति पर ही बल दिया गया। परिणाम यह हुआ कि उत्पादन क्षमता में मंदता आ गई और समाज आर्थिक विकास में पिछड़ गया। लोकतंत्र में व्यक्ति-स्वातंत्र्य को मूल्य दिया गया। इससे उत्पादन क्षमता तीव्र हो गई, पर अर्थ का बंटवारा न्यायोचित नहीं रह सका। बंटवारे में विषमता होने से समाज का जो विकास होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया।

—संदर्भ—
15 अगस्त
स्वतंत्रता दिवस
विशेष

व्यक्ति-स्वातंत्र्य और संविभाग

तीन बातें समाज के लिए जरूरी मानी गई हैं—1. उत्पादन की क्षमता, 2. उत्पादित संपत्ति का सम्यक् बंटवारा, 3. व्यक्ति-स्वातंत्र्य। समस्या यह है कि जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता है, वहां संविभाग नहीं है। जहां संविभाग है, वहां व्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं है। यह स्थिति कैसे सुलझे?

यह जटिल पहलू है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य भी रहे तथा समस्या भी न आए। इसका समाधान है—व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अहिंसा का योग। जब तक इन दोनों को एक साथ नहीं देखेंगे, तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। जो सबसे विषम पहलू है—बंटवारे का—उसका समाधान नहीं हो सकेगा। व्यक्ति समाज-सापेक्ष है। कुछ सीमा व्यक्ति की अपनी होती है और कुछ समाज के साथ जुड़ी रहती है। समाज-सापेक्ष वैयक्तिक सीमा को समझना भी आवश्यक है। कुछ यथार्थ व्यक्ति से जुड़े हुए हैं। जैसे व्यक्ति खाना खाता है, उसे पचाता है, यह उसकी वैयक्तिकता है, किंतु वपन से लेकर रोटी पकने तक की जो

प्रक्रिया है, वह सब समाज-सापेक्ष है। एक व्यक्ति खेती करता है, एक व्यक्ति अनाज का विनिमय करता है, एक व्यक्ति अनाज की पिसाई करता है, एक व्यक्ति रोटी पकाता है, फिर व्यक्ति उस रोटी को खाता है।

उपादान है व्यक्ति

कारणों का संबंध समाज से होता है, उपादान का संबंध व्यक्ति से होता है। समाज में हिंसा के कारण बहुत हैं, पर हिंसा का उपादान समाज नहीं है। उसका उपादान है व्यक्ति। समाज-सापेक्ष है व्यक्ति का जीवन। यदि समाज के प्रति हृदय-परिवर्तन नहीं होता है, तो अहिंसा की बात संभव नहीं बनती। व्यक्ति केवल अपना हित करता है, दूसरे का नहीं करता, तो सही अर्थों में वह अपना हित भी नहीं करता है। क्योंकि वह समाज से जुड़ा हुआ है। यह सूत्र होना चाहिए कि समाज-हित ही मेरा हित, समाज का कल्याण ही मेरा कल्याण। ऐसा होता है तो हिंसा को बढ़ने का इतना अवसर नहीं मिल सकता।

स्वतंत्र कौन?

प्रश्न है—हम स्वतंत्र व्यक्ति किसे मानें? समाज का कोई घटक स्वतंत्र नहीं है। वह समाज से जुड़ा हुआ है। जिसका हृदय-परिवर्तन हो चुका है, वह व्यक्ति स्वतंत्र है। जिसने अपने संवेगों पर नियंत्रण कर लिया है, वह व्यक्ति स्वतंत्र है। पदार्थ जगत् में स्वतंत्रता की एक परिभाषा है, वह भी बाह्य जगत् से जुड़ी परिभाषा है। स्वतंत्रता ने इतना भ्रम पैदा किया है कि वास्तविक स्वतंत्रता पर आवरण आ गया है। स्वतंत्रता का अर्थ है—आंतरिक गुलामी का निर्मूल होना। केवल वस्तु और पदार्थ जगत् के उपभोग को ही स्वतंत्रता से जोड़ा गया, इसीलिए विषमता की समस्या का समाधान नहीं हुआ। अहिंसा की दृष्टि से बाह्य जगत् की स्वतंत्रता और आंतरिक जगत् की स्वतंत्रता—दोनों पर विचार करना अपेक्षित है।

आंतरिक स्वतंत्रता का अर्थ

आंतरिक स्वतंत्रता का अर्थ है—हृदय-परिवर्तन या मस्तिष्कीय प्रशिक्षण। हृदय-परिवर्तन के बिना न्यायोचित बंटवारे की बात संभव नहीं बनेगी। बहुत-से लोग गरीबों की सहायता करते हैं, इसलिए कि गरीबी हिंसा का रूप न ले ले। अहिंसा के प्रयोग चल रहे हैं, किंतु इनके साथ आंतरिक परिवर्तन की बात नहीं जोड़ी गई। हिंसा का एक कारण है—परिस्थिति। एक ओर विपुल साधन हैं, दूसरी ओर साधन अल्पतम हैं। इसी परिस्थिति में हिंसा के बीज अंकुरित होते हैं। प्रश्न है कि यदि परिस्थिति का समीकरण कर दिया जाए, तो क्या हिंसा मिट जाएगी? संभवतः समग्र रूप से वह नहीं मिटेगी, किंतु उसकी तीव्रता समाप्त हो जाएगी।

क्या संपन्न देशों में हिंसा नहीं है? यदि हम संपन्नता के साथ अहिंसा की व्याप्ति स्वीकार कर लेते हैं, तो बहुत बड़ी भ्रांति को जन्म देते हैं। जो विपन्नता-जनित हिंसा होती है, संपन्नता से केवल वही कम हो सकती है। हिंसा का मूल उपादान है—व्यक्ति का मस्तिष्क। उसे बदले बिना अहिंसा की उम्मीद नहीं की जा सकती।

पहले विकल्प उठता है, फिर क्रिया होती है। पहले विचार पैदा होता है, फिर उसका आचरण होता है। विचार का उद्भव स्थल मस्तिष्क में है। जब तक मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं किया जाता, तब तक अहिंसक समाज-रचना की बात सार्थक नहीं हो सकती।

पत्तों को सींचने का प्रयत्न

अहिंसक समाज-रचना के संदर्भ में बहुत-से प्रयोग चले हैं। भूदान और संपत्तिदान का प्रयोग चला। विपन्न राष्ट्रों के लिए संपन्न राष्ट्र करोड़ों रुपयों का सहयोग करते हैं। क्या हिंसा में कमी आई? इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक भाषा में नहीं दिया जा सकता। हमें स्वीकार करना होगा कि हिंसा का सबसे बड़ा स्रोत हमारा दिमाग है। जब तक मस्तिष्क का प्रशिक्षण नहीं होता, तब तक हम हिंसा को कम नहीं कर सकते। सामाजिक और वैयक्तिक—दोनों क्षेत्रों पर ध्यान देना होगा। हम देखते हैं कि एक ओर विपन्नता को कम करने के प्रयोग चलते हैं, दूसरी ओर न्यायोचित बंटवारे की उपेक्षा हो रही है। यह केवल पत्तों को सींचने का ही प्रयत्न है। सबसे बड़ी मांग है—न्यायोचित व्यवस्था, बंटवारे में समानता।

विषमता का उत्स

प्राचीन मनीषियों ने कहा कि कपड़े को गंदा करके साफ मत करो। उसे गंदा करो ही मत। ताकि साफ करने की आवश्यकता ही न पड़े। किसी व्यक्ति या व्यवस्था पर प्रहार करने की बात नहीं है, यह हमारी नीति और हमारी समझ पर प्रहार है। हमारी समझ ही यह हो कि दया करने की अपेक्षा ही न रहे। हम प्रारंभ से ही बंटवारे के औचित्य पर ध्यान दें। एक मालिक कितना अर्जन करता है। उसका कितना भाग स्वयं लेता है और कितना मजदूरों को देता है—यह मूल बात है। मूल समस्या यही है। हम उन पर

दया क्यों करें? पहले किसी को विषम स्थिति में डालें, फिर उस पर उपकार करें, दया करें—यह बड़ी विचित्र बात है। यहीं पर हमारी समानता खंड-खंड होने लगती है। यहीं विषमता पनपती है।

न्याय का अतिक्रमण

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण के अभाव में यह स्थिति बनती है। विषमता के प्रति हमारे मन में ग्लानि नहीं है। समता के प्रति हमारा लगाव नहीं है। क्रूरता, लोभ, भोग और सुविधावाद—इनके प्रति दृष्टिकोण बदल जाता, तो ऐसा कभी नहीं होता। क्रूरता का प्रक्षालन नहीं हुआ है, लोभ का परिमार्जन नहीं हुआ है—तभी ये समस्याएं खड़ी हैं।

आज व्यक्ति-स्वातंत्र्य है, पर अहिंसा नहीं है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य है, पर समता नहीं है। अगर समता होती तो समाज की प्रचुर संपत्ति पर कुछेक लोगों का ही अधिकार नहीं होता। सत्ता और संपदा केंद्रित नहीं होती। आज नब्बे प्रतिशत लोगों को कुछ सत्तासीनों (धन-सत्ता और राज-सत्ता) की कृपा पर जीना पड़ रहा है। यह सामाजिक न्याय का खुला अतिक्रमण है और हिंसा को खुला अवकाश। यथार्थ का आलंबन लिए बिना कभी समस्या का समाधान हो नहीं सकता। सहयोग और करुणा की भावना हमारे मस्तिष्क में स्थाई रूप ग्रहण करे। यदि ऐसा हो तो समतापूर्ण, शोषणमुक्त समाज की रचना संभव होगी। तभी एक अहिंसक समाज का सही निर्माण हो सकेगा। लोकतंत्र की स्वस्थता के लिए वह वरदान सिद्ध होगा।

लोकतंत्र वर्तमान मानस को सर्वाधिक आकर्षित करने वाली एक विधि है, एक प्रयोग है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता लोकतंत्र का प्राणतत्त्व है। सबके लिए समान अवसर और सबको मत का अधिकार—ये लोकतंत्र के विशिष्ट मूल्य हैं। इन मूल्यों का ही फलित है कि लोकतंत्र अहिंसा का व्यावहारिक प्रयोग है।

अहिंसा के पांच मौलिक सूत्र हैं—1. स्वतंत्रता, 2. सापेक्षता, 3. समन्वय, 4. समानता, 5. सह-अस्तित्व।

लोकतंत्र हो और नैतिक मूल्यों का विकास न हो, यह संभव नहीं। लोकतंत्र हो और प्रामाणिकता तथा दायित्व-बोध न हो, यह संभव नहीं। लोकतंत्र हो और अहिंसात्मक प्रतिरोध की शक्ति न हो, यह संभव नहीं। हिंसा की बढ़ती प्रवृत्ति और लोकतंत्र में विरोधाभास है।

लोकतंत्र की प्रक्रिया

लोकतंत्र की गाड़ी चुनाव की पटरी पर चलती है। जनता की शक्ति की अभिव्यक्ति का शक्तिशाली माध्यम है चुनाव। यह दुर्भाग्य है कि चुनाव के दौरान जातिवाद का ज्वालामुखी फूटता है। वह आपसी सौहार्द को लील जाता है। सांप्रदायिक कटुता फुफकारती है और न मालूम किस-किस को डस लेती है। वह राष्ट्रीय एकता की जड़ को हिला देती है। लोकतंत्र का प्रतिबिंब उसमें नहीं देखा जा सकता।

परिवर्तन का प्रारंभ बिंदु

परिवर्तन कहां से शुरू हो? लोकतंत्र के प्रति सुसंगत दृष्टिकोण का निर्माण जरूरी है। लोकतंत्र का घटक है—लोक। उसकी चेतना सुषुप्त रहे, तो कोई भी अगला चरण सफल नहीं हो सकता। शासन अधिक और आत्मानुशासन कम—इसका नाम है—राजतंत्र। शासन कम और आत्मानुशासन अधिक—इसका नाम है—लोकतंत्र। आत्मानुशासन और संयम—दोनों के बीच भेद-रेखा खींचना कठिन है। अणुव्रत का प्रमुख घोष है—'संयम ही जीवन है।' संयम के बिना आत्मानुशासन जीवंत नहीं रहता और आत्मानुशासन के बिना लोकतंत्र सफल नहीं होता। गणाधिपति तुलसी ने लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए कहा—'कानून कम और आत्मानुशासन अधिक, लोकतंत्र का स्वरूप यही है।' लोकतंत्र में नागरिकों के आत्मानुशासन की अपेक्षित मात्रा है या नहीं—यह देखना जरूरी है, इस पर चिंतन आवश्यक है। यदि अपेक्षित आत्मानुशासन है, तो लोकतंत्र विफल नहीं होगा। यदि नहीं है, तो उसकी सफलता दुःस्वप्न ही समझना चाहिए।

अणुव्रत आत्मानुशासन की आचार-संहिता है। उससे प्रस्फुटित होता है—जीवन-दर्शन। अनावश्यक हिंसा का वर्जन, मानवीय एकता, जातिवाद का अस्वीकार तथा सांप्रदायिक-वैचारिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण बनता है, तो लोकतंत्र की पृष्ठभूमि अपने-आप सुस्थिर और सुदृढ़ बन जाती है। इसके लिए अपेक्षित है—प्रशिक्षण। अणुव्रत के प्रशिक्षण का अर्थ है—लोकतंत्र का प्रशिक्षण। लोकतंत्र के प्रशिक्षण का अर्थ है—अणुव्रत का प्रशिक्षण। ऐसा प्रशिक्षण संभवतः अभी नहीं चल रहा है। मतदाता को मत देने का अधिकार प्राप्त है, पर जिस व्यवस्था के संचालन के लिए वह मत देता है, उससे वह अनजान है। लोकतंत्र के नागरिक की अर्हता क्या है? और मत लेने वाले की अर्हता क्या है? इन दोनों का बोध होना जरूरी है। लोकतंत्र के प्रति जन-चेतना जाग्रत होने से यह हो सकता है।

लोकतंत्र : द्वंद्वात्मक भूमिका

जिसे बहुमत मिलता है, सत्ता के सिंहासन पर वही दल बैठता है। जिसे अल्पमत मिलता है, वह प्रतिपक्ष के आसन पर बैठता है। यह एक स्वस्थ प्रणाली है। जैन न्याय का एक सिद्धांत है—यत् सत् तत् सप्रतिपक्षं—जिसका अस्तित्व है, उसका प्रतिपक्ष है। जिसका प्रतिपक्ष नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है। यदि प्रतिपक्ष न हो तो निरंकुश शासन के घटाटोप की संभावना बनी रहती है। इसलिए प्रतिपक्ष का उतना ही मूल्य है, जितना सत्तापक्ष का है। स्वस्थ सत्तापक्ष और स्वस्थ प्रतिपक्ष हो, तभी स्वस्थ लोकतंत्र की परिकल्पना की जा सकती है। इस स्वास्थ्य का रहस्य है—समन्वय। अपने विचार और अपनी नीति का आग्रह सब में होता है, किंतु वह इस सीमा तक न हो कि दूसरे के विचार में सत्य देख ही न सकें, दूसरे की नीति के यथार्थ को न समझ सकें। अणुव्रत जीवनशैली का समन्वय एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

अणुव्रत : अतीत और भविष्य

अणुव्रत का उदय नैतिक विकास या चरित्र विकास के आंदोलन के रूप में हुआ। उसकी आचार-संहिता ने प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया। उसका कार्यक्षेत्र व्यापार-शुद्धि, भ्रष्टाचार-उन्मूलन, चुनाव-शुद्धि आदि में रहा। उसका जीवन-दर्शन या जीवनशैली के रूप में मूल्यांकन नहीं किया गया। अब दिशा-परिवर्तन की अपेक्षा अनुभव की जा रही है। अणुव्रत का जीवन-दर्शन लोकतंत्र का जीवन-दर्शन है। उसकी जीवनशैली लोकतंत्र की जीवनशैली है। उसे व्यवहार-शुद्धि की सीमा में सीमित कर नहीं देखा जाना चाहिए।

एक सामाजिक प्राणी के लिए हम अहिंसा की पूर्णता की बात नहीं सोच सकते। ठीक इसी तरह वह केवल हिंसा के सहारे चले—यह वांछनीय नहीं है। एक मार्ग है—हिंसा से अहिंसा की ओर प्रस्थान, अनावश्यक हिंसा का परित्याग। अणुव्रत की जीवनशैली का यही मार्ग है।

एक सामाजिक प्राणी के लिए हम अपरिग्रह की बात नहीं सोच सकते। वह केवल संग्रह और परिग्रह में आसक्त रहे, यह भी वांछनीय नहीं है। वह व्यक्तिगत स्वामित्व या व्यक्तिगत संग्रह की सीमा करे। व्यक्तिगत भोग की भी सीमा करे। अणुव्रत की जीवनशैली में इस सीमाकरण का बहुत मूल्य है। इसमें पदार्थ के प्रति होने वाली सघन मूर्च्छा का जाल टूटता है।

शिक्षा जीवन की ओर मुड़े

लोकतंत्र को चिरायु बनाने के लिए दो दिशाओं पर विशेष गौर करना जरूरी है। हिंसा और परिग्रह के प्रति जनता का दृष्टिकोण बदले—शिक्षा के साथ ऐसा प्रशिक्षण चले। वर्तमान में शिक्षा केवल व्यवसाय, शिल्प, यांत्रिक विकास और शारीरिक स्वास्थ्य के साथ जुड़ी हुई है। उसका मार्ग बदलना आवश्यक है। उसका प्रवाह केवल जीविका की ओर है, वह जीवन की ओर भी मुड़े। आर्थिक स्पर्धा और सुविधावादी दृष्टिकोण ने अपनी जड़ें गहरी जमा ली हैं। उनका उन्मूलन करना संभव नहीं है, किंतु चेतना की उर्वरा में यदि हिंसा और परिग्रह की सीमा के बीज बोए जाएं, तो एक स्वस्थ विकल्प प्रस्तुत हो सकता है। लोकतंत्र को उसकी बहुत अपेक्षा है। अणुव्रत का प्रयत्न इस दिशा में चले और वह शिक्षा-जगत् को भी अपना सहभागी बना सके तो मानवता का भविष्य उज्ज्वल होगा।

वर्तमान में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के सामने अनेक समस्याएं हैं। जैसे—मानसिक तनाव, हिंसा, आतंकवाद, नशाखोरी, असहिष्णुता आदि। अणुव्रत का बोध और प्रयोग उनके समाधान का एक मार्ग है। लोकतंत्र का प्रशिक्षण केवल सिद्धांतों से नहीं होगा, वह होगा सिद्धांतों के साथ अभ्यास और आचरण के द्वारा।

जनतंत्र का मूल आधार है—स्वतंत्रता और स्वतंत्रता का मूल आधार है—व्यक्ति का आत्मानुशासन। जो व्यक्ति अपने-आप पर अपना नियंत्रण रख सकता है, तभी वह स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है। जनतंत्र में अभय का राज्य होता है। इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हिंदुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र है। उसके नागरिकों का आत्मानुशासन कैसा है, इस प्रश्न पर चाहे-अनचाहे दृष्टि जा टिकती है। इसका जो उत्तर मिलता है, वह संतोष नहीं देता। शासनतंत्र के प्रमुख लोगों में सर्वाधिक आत्मानुशासन होना चाहिए, पर वह नहीं है। वे अपने पद का लाभ भरपूर उठाते हैं। पक्षपात की उनमें कमी नहीं है। अपने कृपापात्रों के लिए वे कुबेर हैं, तो अप्रियजनों के लिए अनुदार भी कम नहीं हैं। वे जनता की भलाई के लिए शासनतंत्र संभालते हैं और उनका जोड़-तोड़ चलता है सदा कुर्सी की सुरक्षा के लिए। यह उचित नहीं है।

आत्मानुशासन की टकसाल है—शिक्षा-संस्थान। राष्ट्र की नई पौध का निर्माण वहीं होता है। उसकी स्थिति

भी स्वस्थ नहीं है। वहां विलास, फैशन और स्वच्छंदता का इतना प्रबल अस्तित्व है कि आत्मानुशासन की एक अस्फुट रेखा भी नहीं दिखाई देती।

धर्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का मुख्य क्षेत्र है। वहां भी स्वार्थों का संघर्ष अपनी जड़ें जमा चुका है।

यह स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसके द्रष्टा अनेक लोग हैं। हम द्रष्टा रहकर स्थिति को नहीं बदल सकते। अपने संयम की आहुति देकर ही उसे बदल सकते हैं। आज यह बहुत अपेक्षित है कि सब लोग आत्मानुशासन का संकल्प लें। हम जन-जन को समझाएं कि स्वतंत्रता का अर्थ है—आत्मानुशासन का विकास। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के
विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं
का स्वागत है।

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

क्या इस विभाजन करने की प्रक्रिया का कोई अंत है, या नहीं? इस सवाल पर आदमी ने शुरू से सोचा है। क्योंकि वास्तव में जो चीजें हैं, उनको तो बहुत देर तक बांटा नहीं जा सकता। कुछ ही देर बाद ऐसा लगता है कि आगे और बांटना मुश्किल है। कुछ लोगों ने इस बात को यहां तक बढ़ाया कि इसकी भी कोई सीमा है और यह सीमा उस अणु या परमाणु में समाप्त होगी, जिसका आगे कोई विभाजन नहीं किया जा सकता। भारतीय दार्शनिकों ने इसे अणु कहा और यूनान के दार्शनिकों ने डेमोक्रीट्स। आज के वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानते कि इसका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता, पर उनको भी कहीं-न-कहीं रुकना होगा।

अनंत की प्राप्ति : अंतहीन प्रक्रिया

❑ प्रो. दयाकृष्ण

हिसाब-किताब हरएक को करना पड़ता है। कहावत है—दो और दो चार होते हैं, पर इसके बारे में सोचा बहुत कम गया है। जिन लोगों ने सोचा है, उनके सोचने का पता बहुत ही कम लोगों को है। आखिर दो क्या होता है? होता तो एक ही है, फिर 'एक' और 'एक' 'दो' कैसे हो जाते हैं? इसके लिए सबको पता है कि उनको जोड़ने की जरूरत है। पर 'जोड़ना' क्या होता है? अगर हम जोड़ें नहीं तो चाहे कितने ही 'एक' हों उनसे कुछ बनेगा नहीं। लेकिन, यह जोड़ने की प्रक्रिया बहुत ही अजीब है, क्योंकि यह कभी भी न खत्म होती है, न खत्म हो सकती है। कितनी ही बड़ी संख्या लीजिए, उसमें फिर 'एक' जोड़ा जा सकता है। इस तरह 'यह जोड़ना' एक अनंतता को जन्म देता है, जिसको समझना मुश्किल है। लाख, दो लाख, करोड़, दस करोड़, अरब, दस अरब, शंख, महाशंख—कितना ही गिनते जाओ, इसका खत्म होना असंभव है।

जानने की इच्छा और जिज्ञासा मनुष्य मात्र में कम-अधिक रहती ही है। ज्ञान की कोई सीमा नहीं और यह भी माना जाता है कि पूर्ण ज्ञान शायद संभव भी नहीं। ज्ञान की इस अंतहीन प्रक्रिया को प्रखर विचारक व जाने-माने दर्शन-शास्त्री प्रो. दयाकृष्ण ने 'जोड़, बाकी, गुणा, भाग की अंतहीन प्रक्रियाओं के आधार पर समझाने-समझने की कोशिश की है और अंत में वे इस निष्कर्ष तक पहुंचे हैं कि 'हम ज्ञान को कर्म का आनुषंगिक मानें'। दो किस्तों में समाप्य इस आलेख की यह पहली कड़ी, हमारे सुधि पाठकों के लिए—

एक गणितज्ञ ने सोचा कि वह ऐसी संख्या बता सकता है, जिससे बड़ी संख्या हो ही नहीं सकती। उसने उसका नाम 'गूगोल' दिया और वह संख्या थी—एक के बाद दस लाख सिफर। इसके बाद उसने इससे भी बड़ी संख्या सोची, जिसका नाम 'Gogol Plex' दिया और वह संख्या थी—एक के बाद इतने गूगोल लगाएं कि आप लिखते-लिखते थक जाएं। एक के बाद कितने 'शून्य' लगाएंगे? उसकी यह मेहनत बेकार थी, क्योंकि आप थक जाएं तो भी संख्या तो आगे बढ़ाई ही जा सकती है।

पर, इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि दुनिया में जितनी चीजें हैं, वे उस संख्या से—जो आदमी बना सकता है—कम ही होंगी। यह बात शायद अजीब लगे कि आखिर कोई आदमी दुनिया की चीजों को 'गिनने' क्यों बैठेगा, पर आदमी अजीब है और उसने ऐसी कोशिश की थी। इंग्लैंड

के प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन ने ऐसी 'बेवकूफी' की कोशिश की थी। बेवकूफी इसलिए कि अगर किसी समय में जितनी भी चीजें हैं, उनकी गिनती कर भी ली जाए तो आगे आने वाले समय में जो चीजें होंगी, उनकी गिनती कैसे की जाएगी? हो सकता है कि उनका मतलब उन परमाणुओं या अणुओं से था जो संसार को निर्मित करते हैं, पर आज जब वे सब छोटी-से-छोटी चीजें, जिनसे परमाणुओं के बनने की बात कही जाती है—जैसे इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रोन आदि, तो फिर इन सबको गिनना करीब-करीब नामुमकिन ही दिखाई देता है। यही नहीं, आज तो जो 'एक' है वो 'दो' में बंट सकता है और जो दो है वो मिलकर 'एक' बन सकता है और ऐसा परमाणुओं के जगत् के अंदर निरंतर होता रहता है। कम-से-कम, किताबों में हमें यही बताया जाता है।

जोड़ने की बात जरा थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें और घटाने की ओर ध्यान दें तो और भी अचंभा हुए बिना नहीं रहेगा। जोड़ना तो कभी समाप्त होता ही नहीं, पर घटाने की समाप्ति होती है। पांच में से चार घटाएं तो एक बचेगा और पांच में से पांच घटाएं तो क्या बचेगा? हम कहते हैं 'सिफर' बचेगा। पर 'सिफर' क्या होता है। सिफर का मतलब कुछ नहीं, पर जब कुछ नहीं बचा तो फिर क्या बचा? 'बचने' की बात करना ही बेवकूफी है।

लेकिन आदमी का ज्ञान इन 'बेवकूफियों' से ही आगे बढ़ता है, क्योंकि अगर हम यह नहीं मानें कि कुछ नहीं है तो वास्तव में फिर विचार की गाड़ी आगे बढ़ेगी ही नहीं। इसलिए यह मान लेते हैं कि 'सिफर' कुछ है और उसके लिए एक निशान यानी चिह्न बना देते हैं।

पर, बात इससे हल नहीं होती। क्योंकि सवाल यह उठता है कि अगर तीन में से चार घटाएं तो क्या बचेगा? एक तरह से तो कुछ बचना ही नहीं चाहिए, क्योंकि तीन में से तीन घटाने पर कुछ नहीं बचता, तो तीन में से चार घटाने पर क्या बचेगा? लेकिन, गाड़ी तो चलनी चाहिए और इसलिए आदमी यह मानकर चलता है कि कुछ तो बचता ही है और उसका नाम '-1' देता है। क्योंकि जैसे जोड़ने की प्रक्रिया कभी खत्म नहीं होनी चाहिए, वैसे ही घटाने की भी। पर, इस जरा-सी बात से उसी प्रकार एक अनंत श्रृंखला का जन्म होता है जिसे अंग्रेजी में 'negative number' कहते हैं। बात सीधी है—जैसे 1, 2, 3 से शुरू होने वाली संख्याओं की श्रृंखला अनगिनत है, उसी प्रकार से -1 से शुरू होने वाली संख्याओं की श्रृंखला भी अनंत है—जैसे यहां 1, 2, 3 है, वैसे वहां -1, -2, -3। अगर इसे समझने में परेशानी हो तो उसे इस तरह हल किया जा सकता है कि जैसे वहां जोड़ने से संख्या बनती है, वैसे ही यहां घटाने से बनती है। मिसाल के तौर पर अगर 1 में से 1000 घटाएं तो क्या बचेगा? इसका जवाब सीधा-सादा होगा -999। पर, कहानी यहां खत्म नहीं होती। संख्याओं की माया अपार है और उस पर जितना सोचें, अचंभा हुए बिना नहीं रहेगा।

आखिर संख्या किसे कहते हैं? वह, जिसे जोड़ा, घटाया, गुणा और भाग किया जा सके। अब घटाने से जिन संख्याओं का सृजन होता है, उनके बारे में गुणा, भाग, जोड़, घटाने के नियम होने चाहिएं, लेकिन ये नियम वैसे ही नहीं हो सकते जैसे एक, दो, तीन के बारे में होते हैं। कहीं-न-कहीं परेशानी जरूर है। परेशानी ही नहीं, कुछ गलती भी जरूर है। क्योंकि अगर ये आधारभूत नियम हर संख्या-श्रृंखला पर एक-से लागू नहीं होते हैं तो उन संख्याओं को एक तरह का नहीं समझा जा सकता। 'negative numbers' के बारे में कुछ-कुछ ऐसी ही बात है। क्योंकि इनके बारे में यह नियम सबको पता है कि अगर -2 को -2 से गुणा करेंगे तो जो संख्या आएगी वह -4 नहीं होगी, बल्कि चार होगी। जरा सोचिए, अगर 2 और 2 को गुणा करते हैं तो भी चार आता है और अगर -2 को -2 से गुणा करते हैं, तो भी 4 आता है। अगर ऐसा है तो फिर 2 और -2 में क्या फर्क है?

इस जरा-सी बात ने ज्ञान की प्रक्रिया के मूल में कितनी बड़ी समस्या पैदा की है, वह सबको पता है, लेकिन उसकी ओर ध्यान न देना सहज स्वभाव-सा बन गया है। कुछ-कुछ उसी तरह का, जैसे आदमी इस बात की ओर ध्यान नहीं देता कि आखिर उसे बीमार होना है, एक दिन चले जाना है। ज्ञान के लिए इससे जो समस्या होती है, वह यह कि हर 'eqvation' के लिए हमेशा दो हल हो सकते हैं—एक जिसे 'positive' कहते हैं, व दूसरा जिसे 'negative' कहते हैं। हिन्दी में इसे 'सकारात्मक' और 'निषेधात्मक' कहा जा सकता है, हालांकि इसका मतलब ठीक-ठीक वही नहीं है। असली मतलब तो उन दो संख्या-श्रृंखलाओं से है, जिन्हें हमने जोड़कर और घटाकर बनाया है। लेकिन, जैसे-जैसे संख्याओं के क्षेत्र का विस्तार होता है, वैसे-वैसे उन नियमों में भी मूलभूत परिवर्तन दिखाई देते

हैं, जिनके आधार पर गणित का विशाल प्रासाद खड़ा किया गया है। एक तरह से जोड़ना और गुणा करना एक ही तरह की बात समझी गई है और इसी तरह 'भाग' करना और 'घटाना'। किसी संख्या को भाग देने का अर्थ यही होता है कि उसमें से यह कितनी बार घटाई जा सकती है और इसी तरह गुणा करने का अर्थ यही होता है कि जिसको गुणा किया गया है, उसे उतनी बार जोड़ा जाए, जिससे गुणा करने की बात कही गई है।

अगर 2 को 4 से गुणा करना है तो इंसका मतलब यही है कि 2 को 4 बार जोड़िए और जो 2 को 4 से गुणा करने पर आएगा वही जो 2 को अपने से 4 बार जोड़ने से आएगा। इसमें जरा-सी समस्या जरूर है और वह यह है कि 2 को 4 बार जोड़ने का मतलब क्या है? 2 को अगर अपने से 4 बार जोड़ें, तो 8 न आकर 10 आ जाएगा और अपने से वास्तव में 4 बार जोड़ें—यानी 2+2+2+2+2 तो 10 हो जाता है, जबकि होना चाहिए 8। इसमें गलती यह मानी जाती है कि हमने पहले दो को 4 दफा जोड़ने में शामिल नहीं किया। लेकिन 2 तो अपने-आप में 2 था ही, उसको अपने से जुड़ा हुआ देखने का क्या मतलब होगा? कोई यह तो नहीं कहता कि 2 को सिफर से गुणा करने पर सिफर आता है, 2 नहीं। जबकि उसका मतलब ये होना चाहिए था कि 2 में कुछ भी मत जोड़िए, पर अगर कुछ भी नहीं जोड़ेंगे तो 2 केवल 2 रहेगा, न उसमें कुछ घटेगा, न बढ़ेगा। कहने का मतलब यह है कि साधारण समझ में और जो गणित को जानने वाले हैं उनकी समझ में भी जोड़ना और गुणा करने की क्रियाएं हैं। वे जिस प्रकार समझी जाती हैं, उसमें कुछ फर्क है और जब तक उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक हिसाब के व्यापार को समझ ही नहीं पाएंगे। हां, काम चलाने की बात तो और है। वह तो सब जगह ऐसे ही चलता है। जोड़ने व गुणा करने का फर्क 'negative numbers' में साफ दिखाई देता है। अगर -2 को -2 से जोड़ें तो -4 आता है और अगर -2 को -2 से गुणा करें तो 4 आता है। अब बताइए -4 और 4 में क्या जमीन-आसमान का भेद नहीं है? लेकिन, इस जरा-सी बात के सामने भी, चाहे कोई कितना ही बड़ा गणितज्ञ हो, वह आमतौर पर यही कहेगा कि जोड़ना और गुणा करना काफी हद तक एक-सी बात है।

अब भाग करने की बात करें। वह और भी अजीब है। किसी भी चीज को कितने भागों में बांटा जा सकता है। क्या इसकी कोई गिनती की जा सकती है? एक का आधा हो सकता है और आधे का फिर आधा, फिर उस आधे का आधा, इस तरह आपकी जितंनी मर्जी हो और आपके पास समय हो, बैठे-बैठे बांटते रहिए। इस प्रक्रिया का अंत नहीं होगा। वैसे ही जैसे जोड़ने या घटाने का। इसको आमतौर पर ऐसे लिखते हैं—1/10, 1/100, 1/1000... या 1/2, 1/3, 1/4, 1/5...। कहने का सीधा-सादा अर्थ यह है कि इस विभाजन की प्रक्रिया का कोई अंत नहीं है। लेकिन यह एक ऐसी समस्या को जन्म देती है और वह समस्या यह है कि आप कोई भी दो छोटी से छोटी, भाग करने के बाद, संख्या लें, तो भी उनके बीच एक और संख्या हमेशा हो सकती है। इसका दूसरा मतलब यह है कि अब तक जिन संख्याओं की बात की है, उनमें हम हमेशा यह कह सकते हैं कि इसके बाद क्या आएगा? लेकिन, यहां ऐसा कहना सिद्धांततः असंभव है। एक के बाद 2 आता है, 2 के बाद 3 और 1 व 2 के बीच में कुछ नहीं, 2 व 3 के बीच कुछ नहीं। लेकिन, अगर हम पूछें कि 1/2 के बाद क्या है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसके बाद 1/3 होगा, क्योंकि इनके बीच 1/4 भी हो सकता है, 1/5, 1/7 भी हो सकता है। एक के कितने भाग किए जा सकते हैं, इनकी कोई गिनती नहीं और न ही हो सकती है। इसलिए जब भी यह सवाल पैदा होता है तो इसका जवाब यह है कि इन संख्याओं के बारे में यह तो हमेशा कहा जा सकता है कि कौन, किससे ज्यादा है या कम? लेकिन यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि यह इसके बाद एक कम है, क्योंकि जिसको भी उसके बाद कहेंगे, उनके बीच में कोई नई संख्या हमेशा बनाई जा सकती है। हमने लिखा था—1/10, 1/100 पर 1/10 व 1/100 के बीच 1/1000 व 1/10000 व 1/100000 भी है। इस 1 को आप 10 बार बांट सकते हैं, या 100 बार या 1000 बार या लाख बार। असंख्य का मतलब यही है, जैसा गिनती गिनने में था, जितनी बार बांटें उससे अधिक बार बांटा जा सकता है।

क्या इस विभाजन करने की प्रक्रिया का कोई अंत है या नहीं? इस सवाल पर आदमी ने शुरू से सोचा है। क्योंकि वास्वत में जो चीजें हैं, उनको तो बहुत देर तक बांटा नहीं जा सकता। कुछ ही देर बाद ऐसा लगता है कि आगे और बांटना मुश्किल है। कुछ लोगों ने इस बात को यहां तक बढ़ाया कि इसकी भी कोई सीमा है और यह सीमा उस अणु या परमाणु में समाप्त होगी, जिसका आगे

कोई विभाजन नहीं किया जा सकता। भारतीय दार्शनिकों ने इसे अणु कहा और यूनान के दार्शनिकों ने 'atom'। आज के वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानते कि इसका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता, पर उनको भी कहीं-न-कहीं रुकना होगा। चाहे वे उसका नाम इलेक्ट्रॉन दें, या प्रोटोन, या न्यूट्रॉन, या कुछ और। हां एक बात जरूर है कि अगर हम इस कल्पना को ही छोड़ दें कि संसार कुछ ठोस चीजों से बना है तो बात दूसरी तरह दिखाई देने लगेगी। इसके भी दो पक्ष हैं। एक यह कि अगर कोई वस्तु स्थान छोड़ती है, या देश में अवस्थित है, और अगर देश का विभाजन अनंत रूप में किया जा सकता है तो वस्तु को भी सदैव विभाज्य मानना पड़ेगा। दूसरी ओर वस्तु को हम इस प्रकार समझें ही नहीं और उसको सतत-प्रवहमान, चिरंतन गतिशील शक्ति की तरह से देखें, जैसा कुछ-कुछ प्रकाश या रोशनी के रूप में दिखता है। प्रकाश कहीं एक जगह स्थित नहीं होता, उसकी तरंगें तो हर क्षण फैलती ही रहती हैं और इस 'फैलने' का कोई अंत नहीं माना जा सकता। चाहे वह हमें दिखाई न दे। यही हाल शब्द की तरंगों का भी है। आज इनको 'light waves' या 'sound waves' कहा जाता है, पर असली बात यह है कि इनको 'कणों' के रूप में नहीं देखकर 'तरंग' के रूप में देखते हैं। पर, फिर सवाल उठता है, आखिर तरंग किसी 'चीज' में उठती है, जैसे कि समुद्र की तरंगें या हवा की तरंगें। इसी तरह से सोचने पर मनुष्य ने सोचा कि ये तरंगें भी किसी 'चीज' में जरूर उठती होंगी या उसके अंदर फैलती होंगी—जिसका नाम 'ईथर' दिया था। लेकिन, आज इसकी सत्ता को कोई स्वीकार नहीं करता। क्योंकि विचार का आग्रह यह है कि अगर किसी चीज को न मानने से काम चल जाए तो फिर उसे मानने की जरूरत क्या है।

पर मानो या ना मानो, इतना तो मानना पड़ता है कि सतत गतिमान प्रवाह में चाहे उसका रूप कुछ भी हो, समय लगता है और अगर समय लगता है तो समय का विभाजन हो सकता है—वैसे ही जैसे संख्या का और अगर ऐसा है तो विभाजन की वही समस्या हमारे सामने आएगी जो गणित ने हमारे लिए उपस्थित की थी।

बांटना या भाग करना जिस तरह समस्याओं को उठाता है, उसी तरह गुणा करना भी। 2 को 2 से गुणा करके 4 आता है और इसलिए '4' को इस तरह देख सकते हैं कि वह 2 और 2 को गुणा करने से बना है। अगर ऐसा है तो हर संख्या के बारे में यह पूछा जा सकता है कि वह संख्या कौन-सी है जिसको अपने से गुणा करने के बाद यह संख्या मिलती है। 4 के बारे में तो स्पष्ट है कि वह 2 है। 9 के बारे में भी स्पष्ट है कि वह 3 है। 16 के बारे में स्पष्ट है कि वह 4 है और 25 के बारे में 5। अब जरा सोचिए 2 को 2 से गुणा करते हैं तो चार आता है, 3 को 3 से गुणा करने पर 9 व 4 को 4 से गुणा करने पर 16 व 5 को 5 से गुणा करने पर 25 आता है। पर, बीच की संख्याओं को कैसे देखें? 3 को छोड़ भी दें, तो यह सवाल उठता है कि वह संख्या कौन-सी है जिसको अपने-आप से गुणा करने पर 5 मिलेगा। यही बात 6, 7, 8 के बारे में फिर 10, 11, 12, 13, 14, 15 के बारे में। कहने का अर्थ यह है कि किसी भी संख्या को लेकर हम आसानी से पता लगा सकते हैं कि उसे अपने से गुणा करके कौन-सी संख्या प्राप्त होगी। परंतु, उसका उल्टा बहुत ही मुश्किल दिखाई देता है। लेकिन, हमें पता हो या ना हो, वह संख्या होनी तो जरूर चाहिए। इसी में गणित की वह पोल छिपी है जिस पर ध्यान देने से आदमी आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता।

अब थोड़ा आगे देखिए। आखिर किसी भी संख्या को 1 बार ही गुणा क्यों किया जाए? उससे अधिक बार भी किया जा सकता है। 2 को 2 से गुणा करिए और फिर 2 से गुणा करिए तो 8 आएगा। चार बार करेंगे तो 16 आएगा 5 बार करेंगे तो 32 आएगा। 6 बार करेंगे तो 64 आएगा। और यही बात आप 3 के साथ, व 4, व हर संख्या के साथ कर सकते हैं। उसको अपने से कितनी बार गुणा करें, इसकी कोई सीमा नहीं—10,000 बार या 1,00,000 बार भी कर सकते हैं। लेकिन, समस्या तो तब पैदा होती है जब हम अपने से पूछें कि कोई भी दी हुई संख्या 5 किस का परिणाम है? जिसको हम अपने से 2 बार, 3 बार, 4 बार, 5 बार, 1000 बार, लाख बार गुणा करके इस संख्या को पा सकते हैं। ऐसी संख्या होनी जरूर चाहिए, चाहे हमें मिले या ना मिले।

आखिर किसी भी संख्या को अपने से जितनी बार चाहें, गुणा करके हम एक अन्य संख्या प्राप्त कर सकते हैं। अब इसी की उल्टी बात हम कह रहे हैं, जिसको आमतौर पर इस प्रकार से लिखा जाता है—

2^2, 2^3, 2^4,..., इसी को इस तरह 2^n लिख सकते हैं। जहां 'n' कोई भी संख्या हो सकती है। 3, 4, 5 या और और भी 2^n कहने का मतलब सीधा है। साधारणतः स्क्वायर या क्यूब की बात करते हैं, लेकिन यह सीमा कोई

जरूरी नहीं है। किसी संख्या का खाली स्क्वायर ही हो या क्यूब ही हो—ऐसी बात नहीं है।

एक दफा यह बात समझ में आ जाए तो फिर इसके बारे में कोई आश्चर्य नहीं होगा। जैसे गिनती के अनगिनत होने में किसी को अचंभा नहीं होता। लेकिन, अगर यह कोई सोचे कि आखिर किसी संख्या की जो भी 'root' है, उसकी भी 'root' हो सकती है और हो ही नहीं सकती, बल्कि होनी चाहिए। क्योंकि इस 'होने' को तो कोई लगाम नहीं लगाई जा सकती। इस तरह कहा जा सकता है कि '2' जो भी है, वह कोई संख्या तो है ही, और अगर ऐसा है तो उसके बारे में भी यह कहा जा सकता है कि वह किसी ऐसी संख्या के गुणनफल के रूप में सोची जा सकती है जिसे अपने से गुणा करने पर वह संख्या प्राप्त होती है जिसे हम '2' कहते हैं। पर, यही बात जितनी बार चाहो, बढ़ाई जा सकती है, क्योंकि आखिर इस अनंत 'बढ़त' या प्रक्रिया को रोकने का कोई औचित्य तो दिखाई नहीं देता। यही नहीं, हम इसको आगे बढ़ाकर यह सोच सकते हैं कि आखिर जो भी 2 है, वह किसी-न-किसी ऐसी संख्या के गुणनफल के रूप में देखा जा सकता है जो अपने से अपने अनेक बार, 2, 3, 4, 5, 6... यानी असंख्य बार गुणा करने पर प्राप्त होती है।

एक तरह से यह हनुमानजी की पूंछ जैसी लगती है जो अपने-आप बढ़ती ही जाती है। फर्क यह है कि रामायण की कहानी में तो उनकी पूंछ एक ही तरफ बढ़ती थी, पर यह गणित की पूंछ तो अनंत दिशाओं में बढ़ती प्रतीत होती है, जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है। अब सोचिए, जो बात हमने 2, 3, 4 के बारे में कही है, वही -2, -3, -4 के बारे में भी कही जा सकती है। उसको भी उसी तरह फैलाया जा सकता है। पता नहीं क्यों, हिसाब लिखने वालों ने इसे केवल -1 जैसी ही संख्याओं तक सीमित रखा है। जिसका कारण शायद यह था कि वे संख्या न '+' हो सकती है न '-', क्योंकि अगर '+' हो तो उसको अपने-आप से गुणा करने पर '-' तो आ ही नहीं सकता और अगर '-' हो, तो भी '-' को '-' से गुणा करके '+1' ही आता है। इसलिए वह एक अजीब संख्या है—जो है तो सही, क्योंकि उसके 'होने' को जबरदस्ती मानना पड़ता है, पर वह न '+' है न '-' है।

अभी तक हमने जितनी संख्याओं की बात की थी वे सब '+' या '-' थी, लेकिन अब हम सही संख्याओं के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, जो न '+' होती हैं, न '-' होती हैं। लेकिन, -2 का घनमूल या 'क्यूब', यानी वह संख्या, जो अपने-आप से तीन बार गुणा करने पर -2 होती है, '-' हो सकती है। क्योंकि '-' को '-' से गुणा करके '+' आएगा और '+' को '-' से गुणा करने पर '-' आएगा। इस तरह इस संबंध में यह अजीब बात उत्पन्न होती है। अगर '-' ऋणात्मक संख्याएं हैं तो उनकी 'root' अगर सम हो यानी 'even' हो तो वह न '+' होगी, न '-' होगी, और अगर वह विषम या 'odd' है तो '-' होगी। अब कोई हिसाबदानों से पूछे कि इस तरह की बात गणित के मूल में कैसे स्वीकार की जा सकती है और क्या वह उसके सारे ढांचे को ही चरमरा नहीं देगी?

बात और भी लंबी है। जितना बढ़ाएंगे उतनी ही विषम होती जाएगी। आखिर यह किसने तय किया है कि 'roots' खाली 'positive' या 'negative number' की ही, 'ratios' या 'fractions' की क्यों नहीं? आखिर कोई भी 'fraction' या 'ratio' लें—जैसे 1/10, या 3/10—तो ऐसी कोई संख्या तो होगी ही जिसको अपने से गुणा करने पर यह संख्या प्राप्त होगी। 'fraction' या 'ratio' की संख्या अनगिनत है, लेकिन इनके बारे में वही सब सोचा जा सकता है जो इससे पहले 2 या 4 या -2 या -4 के बारे में सोचा था। पर, यहां एक और समस्या है कि आखिर -1/4 का क्या मतलब है? और यही नहीं, अगर हम लिखें -1/4 या -1/-4 तो इसका क्या मतलब होगा? इसके बारे में भी क्या 'roots' की वही बात नहीं की जा सकती, जो अन्य संख्याओं के बारे में करते हैं?

आम सोचने वाला न ये सवाल उठाता है, और न इनके बारे में सोचता है, और यही नहीं, हालांकि हिसाब की किताब में आमतौर पर यह नहीं होता, लेकिन अगर गणित को समझना है तो उसे इस प्रकार ही समझा जा सकता है। इसको समझने के और तरीके हैं, जिनकी चर्चा हम यहां अभी नहीं करेंगे। वे एक तरफ, जिसको गणित या Arithmetic कहते हैं, वहां से शुरू होते हैं, जैसा कि हमने कुछ-कुछ किया भी। दूसरी तरफ, वह वहां से शुरू होती है जिसे 'Geometry' या ज्योमिति कहते हैं, जिसका संबंध 'देश' से है और शायद पहले या गणित काल से एक में गिनती गिनना, दूसरे में दूरी को नापना और यह तय करना कि किसी सीमित क्षेत्र का क्षेत्रफल क्या है? ❖

क्रमशः

अगले अंक में समाप्य

अनुभूति

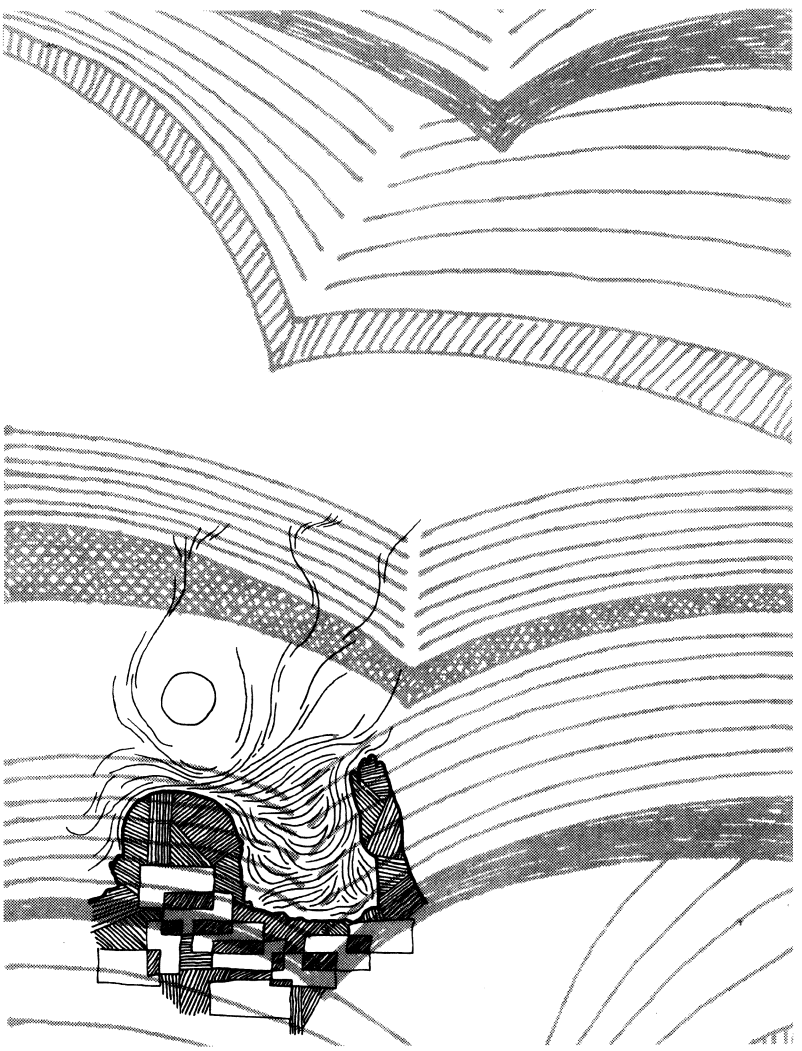

बहुत चला तू केंद्र छोड़कर
दूर स्वयं से जाने को;
अब तो कुछ दिन पंथ मोड़
पंथी! अपने को पाने को।
जला आग कोई जिससे तू
स्वयं ज्योति साकार बने,
दर्द बसाना भी यह क्या
गीतों का ताप बढ़ाने को।

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

जिस प्रकार धरती हमारे लिए आधारस्वरूप है, हम धरती पर टिके हुए हैं; उसी प्रकार जो अतींद्रियज्ञानी हैं, केवलज्ञानी हैं, उनका बुद्धत्व और केवलज्ञान शांति पर टिका हुआ है। शांति नहीं हो तो केवलज्ञान हो ही नहीं सकता। न केवल केवलज्ञान, अपितु सम्यक् दर्शन भी एक सीमा तक शांति पर ही आधारित होता है। शांति नहीं है तो सम्यक्त्व भी समाप्त हो जाता है। श्रावकत्व को भी शांति चाहिए, साधुत्व को भी शांति चाहिए और बुद्धत्व को भी शांति चाहिए। आदमी को शांतिसंपन्न बनने के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए मृदु व्यवहारसंपन्न बनना होगा और चंडालोचित कार्य या चंड व्यवहार को त्यागना होगा।

दुख-मुक्ति के आठ आधार

❑ युवाचार्य महाश्रमण

जैन वाङ्मय में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक प्राप्त होता है—

जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे,
पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए,
असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।।

दसवेआलियं सूत्र से उद्धृत प्रस्तुत श्लोक में आठ बातें बताई गई हैं। ये बातें आदमी के लिए मोक्ष अथवा दुख-मुक्ति में बाधक हैं।

पहली बाधा है—गुस्सा। जिस आदमी पर बार-बार चंडता चढ़ उठती है, जो प्रकृति से जटिल होता है—उसके लिए दुख-मुक्ति कठिन है। एक साधक के लिए तो चंडालोचित आचरण सर्वथा अनुचित है। एक साधक को निर्दयतापूर्ण, आक्रोशपूर्ण और द्वेषपूर्ण व्यवहार कतई नहीं करना चाहिए। हर आदमी को मृदु व्यवहारी बनना चाहिए। न केवल साधक के लिए ही यह बात आवश्यक है, अपितु एक सज्जन आदमी की पहचान ही यह है कि वह अपने व्यवहार को शालीन, शांत और सुंदर बनाए रखे।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कथन है कि मनुष्य का मूल तो मृदुता ही है, कठोरता तो कभी-कभार करनी पड़ती है। जहां मृदुता होती है, कोमलता होती है—वहां आकर्षण भी होता है। जहां कठोरता होती है, निष्ठुरता होती है—वहां आकर्षण समाप्त हो जाता है। मेरा भी यही अनुभव है कि कोई आदमी स्वयं यदि शांत कषाय वाला होता है, तो वह दूसरों की शांति में भी निमित्त बनता है और लोग उससे आकृष्ट होते हैं। इसके विपरीत आक्रोशशील आदमी दूसरों की शांति को और अपनी शांति को भंग करने वाला होता है। शांति के महत्त्व को उजागर करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

जे य बुद्धा अइक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगइ जहा।।

अतीतकाल में जितने अर्हत हो चुके हैं, भविष्य में जितने होंगे और यह भी कहा जा सकता है कि जितने अर्हत वर्तमान में हैं—उन सबका आधार शांति है, जैसे प्राणियों का आधार पृथ्वी है। जिस प्रकार धरती हमारे लिए आधार-स्वरूप है, हम धरती पर टिके हुए हैं; उसी प्रकार जो अतींद्रियज्ञानी हैं, केवलज्ञानी हैं, उनका बुद्धत्व और केवलज्ञान शांति पर टिका हुआ है। शांति नहीं हो तो केवलज्ञान हो ही नहीं सकता। न केवल केवलज्ञान, अपितु सम्यक् दर्शन भी एक सीमा तक शांति पर ही आधारित होता है। शांति नहीं है तो सम्यक्त्व भी समाप्त हो जाता है। श्रावकत्व को भी शांति चाहिए, साधुत्व को भी शांति चाहिए और बुद्धत्व को भी शांति चाहिए। आदमी को शांतिसंपन्न बनने के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए मृदु व्यवहारसंपन्न बनना होगा और चंडालोचित कार्य या चंड

व्यवहार को त्यागना होगा।

दुख-मुक्ति में दूसरी बाधा है—मति और ऋद्धि का अहंकार। जो आदमी अहंकारी होता है, वह दुख-मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए आदमी को किसी बात का घमंड नहीं करना चाहिए। न धन का, न ज्ञान का और न ही सत्ता का गर्व करना चाहिए। धनवान लोगों के लिए तीन परामर्श अपेक्षणीय हैं—पहला परामर्श है कि धन का अहंकार मत करो। दूसरा परामर्श है कि धन के प्रति आसक्ति मत रखो, त्याग की भावना रखो और तीसरा परामर्श है कि धन का दुरुपयोग कभी मत करो।

ज्ञानवान लोगों के लिए भी तीन परामर्श हैं—1. अपने अज्ञान को पहचानें और उसे दूर करने का प्रयास करें। 2. प्राप्त ज्ञान को दूसरों में बांटने का प्रयास करें। 3. आत्मज्ञान/विशिष्ट ज्ञान-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहें।

जिस व्यक्ति के पास आत्मज्ञान है, विशिष्ट ज्ञान है—वह अहंकार नहीं करता। एक राजस्थानी दोहे में कहा गया है—

भरियो सो छळकै नहीं, छळकै सो अधा।
असली घोड़ो भूंकै नहीं, भूंकै सो गधा।।

किसी भी आदमी को अपनी बुद्धि का और ऋद्धि का अहंकार नहीं करना चाहिए। अहंकार करने वाला दुख को प्राप्त करता है। अहंकार को छोड़ने वाला सुख-शांति को प्राप्त करता है।

तीसरी बाधा है—पिसुणे नरे। चुगलखोर आदमी अपने लिए दुख तैयार कर लेता है। चुगलखोर वृत्ति बड़ी ही खराब मानी गई है, एक पाप माना गया है। जिसका लक्ष्य ही छिद्रान्वेषण बन जाता है, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। किसी संस्कृत कवि ने ऐसे व्यक्ति को मच्छर से उपमित किया है—

प्राक्पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसम्
कर्णे कलौ किमपि रौति शनैः विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः,
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति।।

मच्छर पहले पैरों में गिरता है, फिर पृष्ठमांस खाता है, कान में धीरे-धीरे मधुर और विचित्र ध्वनि करता है और छिद्र को पाकर निशंक होकर उसमें प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार मच्छर दुष्टता का चरित्र है। चुगलखोर व्यक्ति का आचरण भी मच्छर की भांति ही होता है। इसलिए आदमी को पिशुनता छोड़नी चाहिए और अच्छा जीवन जीना चाहिए।

दुख-मुक्ति की चौथी बाधा है—दुस्साहस। जो आदमी दुस्साहसिक होता है, वह दुख-मुक्त नहीं हो सकता। साहसिकता का अर्थ भिन्न है। दुस्साहसिकता का मतलब है—अविमृश्यकारी, अर्थात् बिना सोचे-विचारे काम करने वाला। कोई प्रसंग सामने आए और बिना चिंतन किए ही उस पर निर्णय ले लिया जाए तो कई बार कोई बड़ा अनिष्ट हो सकता है, अप्रिय घटित हो सकता है।

किसी राजकुमार को कार्यवश दूर देश जाना पड़ गया। बारह वर्ष बाद वह अपने देश लौटा। समय रात्रि का था। अपने प्रासाद में पहुंचा और जैसे ही अपने कक्ष में प्रवेश किया, तो देखा कि पत्नी के पास ही कोई पुरुष भी सो रहा है। राजकुमार को आवेश आया। सोचा कि अभी तलवार से दोनों को खत्म कर दूं। तत्काल ही दिमाग में एक बात कौंध गई कि मैंने बचपन में एक लाख रुपये में एक अक्ल खरीदी थी; वह यह थी—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकरिणं, गुणलुब्धा स्वयमेव संपदा।।

बिना सोचे-विचारे तत्काल कोई कार्य नहीं करना चाहिए। अविवेक परम आपदाओं का जन्मस्थान है। जो सोच-विचारकर कार्य करता है, उसके पास संपदा आती है। इस अक्ल को याद करके राजकुमार ने पत्नी को जगाया। पूछा—यह कौन सो रहा है? पत्नी ने उत्तर दिया—आप ही का लाडला। आप जब गए, तब यह गर्भ में था और आज बारह वर्ष का हो गया है।

आगमकार ने बहुत ठीक कहा है, बिना सोच-विचार-युक्त काम करने वाला दुख पैदा कर लेता है।

दुख-मुक्ति में पांचवीं बाधा है—हीणपेसणे। जो आदमी अनुशासनहीन होता है, अपने अग्रजों का, पूज्यों का कहना नहीं मानता है, उनकी अवमानना करता है—वह दुख को पैदा करता है। जो व्यक्ति विनीत होता है, पूज्यों की आज्ञा मानने वाला होता है—वह व्यक्ति सुख को प्राप्त करता है। आज की पीढ़ी के लिए यह सोचने की बात है कि उसमें आज्ञाकारिता है या अवज्ञाकारिता? आज्ञा को पालने वाला आज्ञाकारी होता है और आज्ञा की अवमानना करने वाला अवज्ञाकारी होता है।

संस्कृत साहित्य में कहा गया है—'आज्ञा गुरुणां अविचारणीया'—गुरु के आदेश में चिंतन की अपेक्षा नहीं होती, उसका पालन तत्काल करना चाहिए। जहां

आज्ञाशीलता सुख का मार्ग है, वहीं अवज्ञाशीलता दुख का मार्ग है।

दुख-मुक्ति में छठी बाधा है—अदिट्ठधम्मे। जो व्यक्ति धर्म को नहीं जानता, वह अपने लिए दुख पैदा करता है। गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचंद्र से कहा—'धर्म का गंभीर स्वरूप समझना कठिन है। इसलिए आप मुझे 'सामान्य धर्म' का मार्ग बताने की कृपा करें।' आचार्य हेमचंद्र ने संस्कृत श्लोक के माध्यम से सामान्य धर्म बताते हुए कहा—

पात्रे दानं गुरुषु विनयः सर्वसत्त्वानुकम्पा।
न्याय्या वृत्तिः परहितविधावादरः सर्वकालम्।
कार्यो न श्रीमद परिचयः संगतिः सत्सु सम्यग्।
राजन् सेव्यो विशदमतिना सैष सामान्यधर्मः।।

सुपात्र को दान देना, गुरु के प्रति विनय रखना, प्राणी मात्र के प्रति दया रखना, न्यायपूर्ण आचरण करना, दूसरों के हित का विचार करना, लक्ष्मी का अभिमान नहीं करना और सज्जन पुरुषों की संगति करना—यह सामान्य धर्म का स्वरूप है। निर्मल बुद्धि वाले व्यक्ति को इसका पालन करना चाहिए।

त्याग धर्म है, भोग अधर्म है। संयम धर्म है, असंयम अधर्म है। अनमोल धर्म है, मूल्य से प्राप्त होने वाला अधर्म है। आदमी धर्म को समझे और बुराइयों का त्याग करे। नशा छोड़े, गुस्सा छोड़े और बेईमानी को छोड़े। धर्म को समझकर पाप को छोड़ने वाला व्यक्ति दुख-मुक्त होता है। अधर्म के रास्ते पर चलने वाला अथवा अदृष्टधर्मा व्यक्ति अपने लिए दुख तैयार कर लेता है।

इसी तरह दुख-मुक्ति की सातवीं बाधा है—विणए अकोविए। जो व्यक्ति विनय में अकोविद है, झुकना नहीं जानता, पूज्यों का सम्मान करना नहीं जानता, दुराग्रह को छोड़ना नहीं चाहता—वह दुखी होता है। इसलिए व्यक्ति को विनय में कुशल होना चाहिए। विनय की आराधना से ही आत्मा का हित संभव हो सकता है। आचार्य नेमिचंद्र ने इस बात की पुष्टि के लिए 'सुखबोधा' में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

विणया णाणं णाणाओ, दंसणं दंसणाओ चरणं च।
चरणाहिंतो मोक्खो, मोक्खे सोक्खं निराबाहं।।

विनय की आराधना से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष में निराबाध सुख उपलब्ध होता है।

दुख-मुक्ति में आठवीं बाधा है—असंविभागी। जिस व्यक्ति में संविभाग की मनोवृत्ति नहीं होती—वह दुख को प्राप्त करता है। समाज में जीवन-निर्वाह करने वाला व्यक्ति यदि दूसरे के हिस्से को भी स्वयं के लिए लेना चाहता है तो वहां संघर्ष की स्थिति बन जाती है। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाला व्यक्ति कहता है—'मेरा सो मेरा, तेरा सो भी मेरा'। इसके विपरीत उदार वृत्ति वाला व्यक्ति कहता है—'तेरा सो तेरा, मेरा सो भी तेरा।' जबकि एक संत वृत्ति वाला व्यक्ति कहता है—'ना कुछ तेरा, ना कुछ मेरा। दुनिया रैन बसेरा'।

समाज में रहने वाला जो आदमी संविभाग करना जानता है, छोड़ना जानता है, त्यागना जानता है—तो वह दुख-मुक्त हो सकता है। असंविभागी व्यक्ति कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। मुनिश्री स्वरूपचंदजी के साथ कई संत थे। एक दिन भिक्षा में पानी कम आया। मुनिश्री ने साधुओं से कहा—'आज पानी कम है, इसलिए टोपसी से माप-माप कर पीना।' प्रायः सभी ने इस निर्देश का जागरूकता से पालन किया। किंतु एक साधु ने बिना मापे ही पात्र उठाकर पानी पी लिया। मुनिश्री ने कहा—तुमने व्यवस्था को भंग क्यों किया? टोपसी से मापे बिना पानी क्यों पीया? उस साधु ने कहा—'पानी भी कोई मापकर पीया जाता है? मुझे प्यास लगी थी, अतः अधिक पानी पी लिया तो क्या हुआ?' मुनिश्री ने समझाते हुए कहा—'सामान्य स्थिति में पानी मापने की जरूरत नहीं होती। आज पानी कम है और संविभाग की हमारी व्यवस्था है, तुमने व्यवस्था को भंग किया है।' अनुशासन और व्यवस्था का अतिक्रमण करने के कारण अथवा संविभाग की मनोवृत्ति न होने के कारण उनका संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया गया।

वह व्यक्ति दुख-मुक्त बन सकता है जो इन बाधाओं से दूर रहे। ❖

यदि तेरा मन दया से पूर्ण है तो तू उपवास आदि के द्वारा व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। तुझे दया-भाव से ही सिद्धि मिल जाएगी। यदि तेरा मन दया से शून्य है तो तू मुक्ति के लिए व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, क्योंकि मात्र काय-क्लेश से मुक्ति नहीं मिलती।

—धर्मामृत (4/9)

भगवान महावीर के उपदेशों में एक बड़े मार्के की बात है। उन्होंने आज्ञा दी थी कि सब धर्मों, पंथों व मानवों में जो सत्य का अंश है, उसे ग्रहण करना चाहिए। किसी एक ही मजहब, पंथ या व्यक्ति के पास संपूर्ण सत्य है, यह मानना उचित नहीं है। पूज्य विनोबा ने इस गूढ़ विचार का विवेचन करते हुए एक नया शब्द दिया है— 'सत्याग्राही'। 'सत्याग्रह' का विचार महात्मा गांधी ने दिया और 'सत्याग्राही' का आदर्श भगवान महावीर ने। यदि हम सच्चे अर्थ में सत्य के ग्राही बनते हैं और अपने साथियों की बुराइयों के बजाय उनके गुणों को देखने व ग्रहण करने का प्रयास करते रहते हैं तो फिर हृदय-भेद होने की गुंजाइश ही नहीं रहती। हम आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने अवगुणों को हटाने की कोशिश करेंगे।

निष्काम कर्म : भौतिक-आध्यात्मिक विकास का आधार

❑ श्रीमन्नारायण

भारत की प्राचीन परंपरा में समन्वय व समग्रता की धारा चलती रही है। हमारे ऋषियों व पूर्वजों ने 'विश्व-मानुष' व 'वसुधैव कुटुंबकम्' का जीवन-दर्शन हमें प्रदान किया था। 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः'— प्रार्थना उनके आश्रमों से प्रतिध्वनित होती रहती थी। उनका सर्व-धर्म-समानत्व का संदेश राष्ट्र के विभिन्न वर्गों व समूहों को प्रेम व सहिष्णुता के सूत्र में सदा बांधे रहता था।

किंतु, इतिहास दर्शाता है कि हम जब धर्म, भाषा व प्रदेशों की भिन्नता के बावजूद एक रहे, तब राष्ट्र ने तेजी से तरक्की की और अपना प्रभाव पड़ोसी प्रखंडों पर डाला। लेकिन, जब कभी हम आपसी मतभेदों व स्वार्थों के कारण एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने में व्यस्त हो गए, तभी राष्ट्र कमजोर पड़ा और हमारी स्वतंत्रता भी खंडित हुई। यह बिलकुल स्पष्ट है कि भारत जैसा विशाल राष्ट्र तभी विकसित व सुदृढ़ हो सकता है, जब उसके नागरिकों के दिल और दिमाग विशाल व संतुलित हों। यदि हमारी बुद्धि व हृदय छोटे व संकुचित बन जाते हैं तो फिर हमारा देश बड़ा कैसे रह सकेगा? किसी कवि ने ठीक ही लिखा है—

व्यक्ति त्याज्य परिवार हेतु,
परिवार त्याज्य यदि नगर दुखी हो,
नगर त्याज्य जनपद के आगे,
सभी त्याज्य यदि राष्ट्र सुखी हो।

गीता के तीसरे अध्याय में पुरुषोत्तम कृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का मर्म समझाते हुए आदेश दिया है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

यानी 'हम कर्म-यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करें और देवगण हमारी उन्नति करें। इस प्रकार हम पारस्परिक उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त हों।' मेरी दृष्टि से इसका सच्चा अर्थ यही है कि निष्काम कर्म-यज्ञ द्वारा हमारा आपसी व्यवहार ऐसा हो कि भौतिक व आध्यात्मिक कल्याण का सम्यक् विकास होता रहे। हमारी साधना सामूहिक हो और हम एक-दूसरे का द्वेष न करें, सुख, शांति व समृद्धि तभी प्राप्त हो सकेगी।

ईसामसीह ने अंतकाल में अपने शिष्यों से कहा था—'तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्यार करो जैसे मैंने तुमसे प्रेम किया है।' साधारण नागरिकों के लिए भी उनका उपदेश था : 'तुम अपने पड़ोसी से वैसे ही प्यार करो, जैसे तुम अपने से करते हो।' मुहम्मद पैगंबर ने अपने साथियों व शिष्यों को बार-बार यही समझाया—'जिन्हें ईश्वर में श्रद्धा है, जो धीरज और प्रार्थना के साथ संसार में जोड़ने

का काम करते हैं, उन्हीं का इहलोक व परलोक सफल होता है।'

भगवान बुद्ध के शिष्यों में आपसी द्वेष व कलह रहता था, वे एक-दूसरे की निंदा किया करते थे। लेकिन, भगवान उन्हें सदा यही उपदेश देते रहते थे—'वैर से वैर कभी शांत नहीं होता, वह प्रेम से ही शांत हो सकता है।'

एक दिन महात्मा गांधी से पूछा गया—'आपके सेवाग्राम आश्रम में कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें साधारण समाज में किसी प्रकार का स्थान मिलना शक्य न होगा। वे आपस में प्रेम से भी नहीं रहते। फिर उन्हें आश्रम में क्यों रखा गया है?'

बापू ने मुस्करा कर उत्तर दिया—'मेरा आश्रम तो एक तरह का 'शंभु-मेला' है। जिनकी दुनिया में किसी से नहीं बनती, मैं उनसे भी यहां कुछ-न-कुछ काम ले रहा हूं। आश्रम मेरे लिए अहिंसा व धीरज की प्रयोगशाला है।'

ऋषि विनोबा ने 'परस्परं भावयन्तः' के आदर्श को समझाते हुए कहा था—'सामूहिक साधना के लिए यह जरूरी नहीं है कि हमारे विचार एक-से हों। हां, हमारे हृदय एक हों। हम मतभेदों को दूर करने के लिए आपस में खुली व मुक्त चर्चा अवश्य करें, लेकिन किसी तरह की कटुता व मनमुटाव न रहे।' उन्होंने होमियोपैथी की दवाइयों का जिक्र करते हुए समझाया—'इन औषधियों को जितना घोटा जाए उतनी ही उनकी पोटेंसी या शक्ति बढ़ती जाती है। किंतु, घोटते समय शक्कर मिलाना जरूरी है। शक्कर न डाली जाए तो दवा जहर बन जाती है और शक्कर मिलाते रहने से वही अमृत हो जाती है। इसी तरह हम आपसी चर्चा खूब करें, लेकिन मिठास के साथ, प्रेम में कमी न आने पाए।'

कई वर्ष पहले नैनीताल के नजदीक त्रिकाल-दर्शी नीमकरोली बाबा ने भी बिलकुल सरल भाषा में यही कहा था—'भारत ऋषि-मुनियों का देश है। कई तूफान आएंगे और निकल जाएंगे, किंतु भारत का कुछ न बिगड़ेगा। हां, आपस में प्रेम करते रहो। बस, फिर सब ठीक ही रहेगा।'

भगवान महावीर के उपदेशों में एक बड़े मार्के की बात है। उन्होंने आज्ञा दी थी कि सब धर्मों, पंथों व मानवों में जो सत्य का अंश है, उसे ग्रहण करना चाहिए। किसी एक ही मजहब, पंथ या व्यक्ति के पास संपूर्ण सत्य है, यह मानना उचित नहीं है। पूज्य विनोबा ने इस गूढ़ विचार का विवेचन करते हुए एक नया शब्द दिया है—'सत्यग्राही'। 'सत्याग्रह' का विचार महात्मा गांधी ने दिया और 'सत्यग्राही' का आदर्श भगवान महावीर ने। यदि हम सच्चे अर्थ में सत्य के ग्राही बनते हैं और अपने साथियों की बुराइयों के बजाय उनके गुणों को देखने व ग्रहण करने का प्रयास करते रहते हैं तो फिर हृदय-भेद होने की गुंजाइश ही नहीं रहती। हम आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने अवगुणों को हटाने की कोशिश करेंगे। संत कबीर गाते ही हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय।

जैन धर्म के विभिन्न पंथों का सार 'समण-सुत्तं' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें सर्वसम्मति से 756 गाथाएं शामिल की गईं। जो कार्य पिछले ढाई हजार वर्षों में नहीं हो पाया, वह ऋषि विनोबा की प्रेरणा से पूरा हो सका, यह बड़े संतोष का विषय रहा। इस ग्रंथ का 24वां सूत्र इस प्रकार है—

यदिच्छसि आत्मतः, यच्च नेच्छसि आत्मतः,
तदिच्छ परस्यापि च, एतवात्कं जिनशासनम्।

अर्थात्—'जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए भी चाहो, तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिन-शासन है—तीर्थंकर का उपदेश है।'

कुछ इसी तरह का चिंतन अन्य धर्मग्रंथों में भी पाया जाता है। अगर हम यह भलीभांति महसूस करने लगें कि एक ही निर्मल व अमर ज्योति सब प्राणियों में विद्यमान है तो फिर पारस्परिक सद्भावना व मुहब्बत हमें सहज ही प्राप्त हो जाएंगी। छोटी-छोटी बातों को लेकर मनमुटाव का संचार असंभव होगा। मनु महाराज ने स्पष्ट आश्वासन दिया है—

एवं यः सर्व-भूतेषु पश्यति आत्मानमात्मना।
स सर्व-समतां एत्य ब्रह्माभ्येति परम् पदम्।।

आपसी मतभेद होना केवल स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है; किंतु इन मतभेदों को दूर कर सर्वानुमति प्राप्त करने की प्रक्रियाएं भी कई संस्थाओं ने प्रस्थापित की हैं। उदाहरण के लिए क्वेकर संप्रदाय के सदस्य आपसी मतभेद उपस्थित हो जाने पर एक बंद कमरे में मौन-ध्यान के लिए बैठ जाते हैं, ताकि उन्हें प्रभु की प्रेरणा मिल सके। रोम में वेटीकन सिटी में एक कमरा है, जिसमें पोप के चुनाव के समय चुनाव करने वाले सभी कार्डीनल बंद कर दिए जाते हैं और जब तक एकराय से चुनाव पूरा न हो जाए तब तक उस

कक्ष के किवाड़ खोले नहीं जाते। कभी-कभी सर्वानुमति होने में एक सप्ताह लग जाता है। जैसे ही सर्वसम्मति से नए पोप का निर्वाचन पूरा हो जाता है, कमरे की चिमनी से सफेद धुआं निकलने लगता है और चारों ओर हर्ष-ध्वनि होती है। फिर उस कमरे के दरवाजे का ताला खोल दिया जाता है। काफी वर्ष पूर्व जब सर्वोदय के विचार-प्रचार के लिए मैंने विश्व-भ्रमण किया था तब 'वेटीकन' में यह कक्ष देखकर बड़ी खुशी हुई थी। इसमें भोजन आदि का सभी आवश्यक प्रबंध था; किंतु खाना बाहर ही तैयार करके खिड़कियों द्वारा अंदर दे दिया जाता है। कक्ष के भीतर कार्डीनलों के अलावा और कोई भी व्यक्ति नहीं जा सकता। काश! भारत की कम-से-कम कुछ आध्यात्मिक व सांस्कृतिक संस्थाओं में भी इस प्रकार की परंपरा डाली जा सके। बहुसंख्या के आधार पर चुनावों की पद्धति से हमारे समाज में बहुत-सी बुराइयां घर कर गई हैं। जहां तक संभव हो, हमारी रचनात्मक संस्थाओं का कार्य एकराय से संचालित हो। इस प्रक्रिया में भले कुछ देर लगे, किंतु सर्वानुमति से हमारे निर्णयों में एक मीठी खुशबू होगी, जिससे कार्यान्वयन आसान बनेगा। लेकिन, सर्वानुमति का यह अर्थ न लगाया जाए कि एक व्यक्ति भी क्षुब्ध होकर संपूर्ण संस्था को ही तोड़ डाले। सर्वानुमति को सफल बनाने के लिए 'सुमति' का वातावरण नितांत आवश्यक है। जहां 'कुमति' होगी, वहां न सर्व-सम्मति हो सकेगी और न आपसी सद्भाव। यह सुमति से ही सध सकेगा।

असली बात तो यह है कि 'सुमति' के वातावरण का तभी निर्माण होगा जब किसी संस्था के सामने भव्य व उत्तुंग लक्ष्य हो। उदाहरण के लिए स्वराज्य मिलने के पहले कांग्रेस के सन्मुख आजादी का एक निश्चित ध्येय था, जिसके लिए उसके कार्यकर्ता हमेशा मर-मिटने को तैयार थे। सर्व सेवा संघ ने कई वर्षों तक भूदान-ग्रामदान की अहिंसक क्रांति में सक्रिय हिस्सा लिया। रचनात्मक सेवकों में उस समय एक तमन्ना थी—भूमि की समस्या हल कर डालने की और भारत में ग्राम-स्वराज्य को स्थापित करने की। धीरे-धीरे यह आंदोलन मंद पड़ता गया और विनोबाजी ने 'क्षेत्र-संन्यास' ले लिया। इसी बीच जयप्रकाशजी का संघर्षात्मक आंदोलन फूट निकला और कार्यकर्ताओं का ध्यान सहज उधर झुक गया। जैसे प्रकृति में रिक्त-स्थान (वैक्युअम) नहीं रह सकता, उसी प्रकार संस्थाएं भी बिना किसी ठोस व प्रेरक कार्यक्रम के तेजस्वी बनी नहीं रह सकतीं। ध्येय की रिक्तता के कारण उनमें गतिरोध उत्पन्न हो जाता है और उसके साथ ही आपसी संघर्ष व वैमनस्य प्रकट होने लगता है।

इस वक्त रचनात्मक या शिक्षण संस्थाओं के लिए कौनसा 'मिशन' ऐसा है, जिसके लिए कार्यकर्ता अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार हो सकते हैं? जहां तक मैं सोच सकता हूं वह मिशन 'अंत्योदय' का ही हो सकता है। गांधीजी ने हमें सदा आदेश दिया था कि सबसे अधिक गरीब व दीन-दुखियों के कल्याण के बिना सर्वोदय का विचार केवल कवि-कल्पना ही बनकर रह जाएगा। इसी दृष्टि से उन्होंने 'दरिद्रनारायण' की सेवा को इतना महत्त्व दिया था। स्वराज्य के ढाई दशक बाद जब योजना आयोग के आंकड़े सामने आए तो उनके अनुसार उस समय लगभग 22 करोड़ जनता 'गरीबी रेखा' के नीचे की जिंदगी बसर कर रही थी। निरंतर बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति के कारण यह रेखा दिन-दिन अधिक नीची होती जा रही है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि आज भारत की करीब आधी जनसंख्या भयंकर गरीबी की चपेट में अपना वक्त गुजार रही है।

फिर क्या किया जाए? हम अगर जरा गहराई से अध्ययन करें तो देखेंगे कि खादी-ग्रामोद्योग जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा भी हम 'अंत्योदय' के लक्ष्य तक नहीं पहुंच सक रहे हैं। गो-सेवा, हरिजन-कल्याण, आदिवासी-विकास, नई तालीम व प्रांकृतिक चिकित्सा की योजनाओं के जरिए हमारी संस्थाएं दरिद्रनारायण की सेवा करने में काफी हद तक असफल रही हैं।

अतः संघर्ष या सहयोग के निरर्थक विवाद में पड़े बिना, अपने हरेक कार्यक्रम को इसी मापदंड पर तोलना चाहिए कि उससे अत्यंत निर्धन वर्गों को कितना लाभ पहुंच रहा है। सरकारी योजनाओं की कामयाबी भी इसी नजरिए से नापी जानी चाहिए। यदि हमारी पंचवर्षीय योजनाएं अब भी 'गरीबी रेखा' के नीचे रहने वाली जनता के जीवन को न छू सकेंगी तो फिर समाजवाद और 'गरीबी हटाओ' के नारे बिल्कुल थोथे साबित होंगे।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हमें एक मूल-मंत्र दिया था—'जब तुम यह निर्णय न कर सको कि तुम्हारा क्या धर्म है, और तुम्हारी बुद्धि भ्रम में पड़ जाए, तब तुम उस व्यक्ति के चेहरे को याद करो जो तुम्हारी नजर में अत्यंत दुखी व गरीब हो और तुम अपने-आप से पूछो कि जो काम

शेष पृष्ठ 55 पर

शक्ति के अजस्र स्रोत हैं—अच्छे विचार, जो हमें हमारी क्षमता का एहसास कराते हैं, कवच बन रक्षा करते हैं। अच्छे विचार ऐसा कोष हैं; जिसे कोई चिंता लूट नहीं सकती, कोई पीड़ा म्लान नहीं कर सकती, कोई लालसा छीन नहीं सकती। सत्संग, सात्त्विक वातावरण, सत्साहित्य का स्वाध्याय और सुविचारों की अनुप्रेक्षा इसके लिए सहायक साधन बन सकते हैं। पवित्र विचार-संपन्न पुरुष का सान्निध्य और प्रेरणादायक पाथेय अनगिन लोगों के विचारों को बदल देते हैं। तीर्थंकर, गणधर, ऋषि-महर्षि और संतों के असंख्य जीवन-प्रसंग किससे अज्ञात हैं?

अच्छे विचार : शक्ति के अजस्र स्रोत

❑ मुनि धर्मचंद 'पीयूष'

घने जंगल में जहां कंटीली, जहरीली झाड़ियां बहुत गहरे तक जड़ें जमाए रहती हैं, वहीं जड़ी-बूटियों का अक्षय भंडार भी होता है। समझदार आदमी जहरीली, घातक झाड़ियों को उखाड़ फेंकता है और स्वास्थ्यदाई जड़ी-बूटियों का विकास और उपयोग करता है। अनुपयोगी झाड़-झंखाड़ बिना किसी प्रयत्न के स्वयं ही उग आते हैं, किंतु उपयोगी, लाभकारी वनस्पतियों का बागीचा लगाने या खेती योग्य जमीन को तैयार करने के लिए सविवेक श्रम करना पड़ता है। जमीन को हल जोतकर समतल करना, उचित समय और बरसात होने पर उत्तम बीज बोना, समय-समय पर खाद-पानी देना—इस तरह सुव्यवस्थित सार-संभाल करने पर उत्तम पोषक फल-फूल, सब्जियां और जीवनदाई खाद्यान्न मिलते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा में भी अनादिकाल से कुअध्यवसाय, कुविचारों का सघन जंगल पसरा हुआ है, साथ ही सुअध्यवसाय के बीज भी हैं। आवश्यकता है कु-अध्यवसाय के जंगल को उखाड़ फेंकने तथा सुविचार की पोषक फसल उगाने के लिए सचेत-सावधान होकर सुखदायक श्रम करने की, आरोग्यदायक बीजों को फलित करने की।

आगमों की भाषा में उदयभाव और क्षयोपशम भाव का द्वंद्व आत्मा में सदा से चलता रहा है। दोनों की विद्यमानता है। ऐसी कोई संसारी आत्मा नहीं है, जिसके पूर्णतया उदयभाव ही उदयभाव हो। कुछ-न-कुछ क्षयोपशम भाव रहता ही है। आवश्यकता है—क्षयोपशम भाव को विकसित करने की। पूर्णिमा के चांद के समान पूर्ण विकासमान क्षायक भाव की स्थिति तक पहुंचने से पहले जरूरी है—क्षयोपशम भाव को पुष्ट करने की। कुविचार-कदाचार की कष्टकारक फसल को उदयभाव की सघनता प्राणवायु देती है। इसी तरह क्षयोपशम भाव की प्रबलता सुविचार-सदाचार के सुमन खिलाती है। आवश्यकता है—सावधान होकर क्षयोपशम भाव को प्रबल करने की, सुविचारों के बीज बोने की। जैसा बीज, वैसी फसल। मस्तिष्क के उद्यान में कुविचार या सुविचार—जैसे बीज बिखरेंगे, वैसी ही फसल तैयार होगी। मानव-मस्तिष्क भी एक कंप्यूटर है। अवचेतन मन में जैसे विचारों के संदेश संप्रेषित करेंगे, वे ही पुनः प्राप्त होंगे, फलीभूत होंगे। दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति है—विचार की। ह्रास और विकास की यात्रा विचारों की पटरी पर चलती है। सुविचारों के बल पर विकास के उच्चतम शिखरों को छूआ जा सकता है।

आत्मविकास की यात्रा सकारात्मक उत्तम विचारों से शुरू होती है। अपवित्र विचारों से बचना मन का तप है। तप धर्म है। शरीर, वाणी, मन को निर्मल बनाना तप का प्रयोजन है। आत्मविकास के द्वार खोल देना तप का काम है। धीर, गंभीर, प्रशांत व्यक्तित्व के निर्माण में सकारात्मक विचारों की महती भूमिका होती है। जीवन में जब सकारात्मक विचारों का उजाला बिखरता है, तब मंजिल का शिखर दिखाई देने लगता है।

शरीर विज्ञान के अनुसार एक सैकेंड के निषेधात्मक भावों—ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अहंकार, निराशा, उदासी—को हानि पहुंचाने के भावों से 1500 श्वेत रक्त कणिकाओं—जो रोग प्रतिरोधक क्षमता के लिए उत्तरदाई हैं—का एक साथ क्षय हो जाता है। इसके विपरीत एक सैकेंड का सकारात्मक चिंतन 1600 श्वेत कणिकाओं (डबल्यू.बी.सी.) को बढ़ा देता है। नकारात्मक चिंतन मस्तिष्क में एंडोर्फीन हार्मोन (जो प्रतिरक्षा प्रणाली को पुष्ट व सुदृढ़ बना, शरीर को स्वस्थ-प्रसन्न रखता है) को घटा देता है। सकारात्मक सोच से इसमें अभिवृद्धि होती है। स्वास्थ्य पर भी विचारों का गहरा असर होता है। यही कारण है कि वैकल्पिक चिकित्सा विधि के रूप में चिकित्सकों का ध्यान इस ओर जाने लगा है।

सकारात्मक सोच उत्तमतम सुमनों की जड़ों को पोषण दे जीवन की बगिया को महका देता है। जैसा सोच, वैसा ही विचार। भाव, कर्म, स्वभाव, चरित्र और व्यवहार बेहतर रहें और उनसे ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना जीवन की बेहतरीन कमाई है, सर्वोत्तम कला है। सकारात्मक सोच, जीवन की दशा और दिशा को बदल देता है। जीवन में आनंद, उत्साह, प्रसन्नता का वसंत उतर आता है। सोच को बदलना असंभव न होने पर भी आसान नहीं होता। स्वयं से लड़ना होता है।

आंतरिक परिवर्तन लाने, मनोभूमि को मनोरम बनाने के लिए भारी प्रयत्न करना होता है। सुविचारों को घोट-घोटकर मन-मस्तिष्क में रमाना-जमाना होता है। कुविचारों की आंधी, कुसंस्कारों का भरपूर कचरा इस युग-प्रवाह में आ रहा है। कुविचार ऐसा शैतान है, जो हर समय फंसाने की फिराक में ही रहता है। एक पौराणिक प्रसंग का स्मरण हो रहा है। विधाता की सृष्टि में एक समय ऐसा था, जब मानव के विचार-आचार-व्यवहार विधाता के समान पवित्र और शालीन थे। उसके कान हरिकीर्तन-श्रवण, नेत्र उत्तम दृश्यदर्शन, जीभ सत्य-मधुर कथन तथा हाथ-पांव उत्तम कार्य-संपादन में लीन थे। कुटिल मति शैतान को यह फूटी आंखों नहीं सुहाया। वह सीधे-सरल मानवों को बहकाने लगा। ओ धरती के शृंगार मानव! तू बहुत भोला है, बेकार दुगुनी शक्ति खर्च कर रहा है, जब एक कान, आंख, हाथ-पांव से सारे कार्य संपादित हो सकते हैं, तो दोनों का प्रयोग व्यर्थ है। एक-एक का उपयोग कर दूसरे को आराम करने दे। सरल आदमी बहकावे में आ गया। बस! शैतान का काम बन गया। कुटिल चाल सफल हो गई। दूसरे कान, आंख, हाथ-पांव पर सहज ही में उसने कब्जा कर लिया। कुविचार आ धमके। बुराई तो फैलती ही तीव्रता से है। कुविचारों का प्रभाव बढ़ने लगा। आगमीय परिभाषा में उदयभाव प्रबल हो गया। कलिकाल उतर आया। कुटिल कुचालों, कुविचारों का साम्राज्य फैल गया।

कुटिल कुविचारों की फौज खड़ी होने लगी। आज इन कुविचारों को पोषण देकर पीत साहित्य ताकतवर बन रहा है। मनोरंजन के नाम पर आम जनता को परोसे जाने वाले अन्य कार्यक्रम भी इसमें सहायक हो रहे हैं। परिवार, समाज और राष्ट्र कलंकित हो रहे हैं।

शक्ति के अजस्र स्रोत हैं—अच्छे विचार, जो हमें हमारी क्षमता का एहसास कराते हैं, कवच बन रक्षा करते हैं। अच्छे विचार ऐसा कोष हैं; जिसे कोई चिंता लूट नहीं सकती, कोई पीड़ा म्लान नहीं कर सकती, कोई लालसा छीन नहीं सकती। सत्संग, सात्त्विक वातावरण, सत्साहित्य का स्वाध्याय और सुविचारों की अनुप्रेक्षा इसके लिए सहायक साधन बन सकते हैं। पवित्र विचार-संपन्न पुरुष का सान्निध्य और प्रेरणादायक पाथेय अनगिन लोगों के विचारों को बदल देते हैं। तीर्थंकर, गणधर, ऋषि-महर्षि और संतों के असंख्य जीवन-प्रसंग किससे अज्ञात हैं? विद्याभिमानी इंद्रभूति गौतम का अहंकार तीर्थंकर महावीर के सान्निध्य में विगलित हो गया। श्रमण केशीकुमार के सान्निध्य से राजा परदेशी का नक्शा ही बदल गया। क्रूरता के मूर्तरूप अंगुलिमाल की भगवान बुद्ध के सान्निध्य से जीवन धारा बदल गई। अतीत के साथ वर्तमान में भी ऐसे प्रसंगों के प्राणवान प्रमाण मौजूद हैं। महात्मा गांधी, विनोबा; अणुव्रत आंदोलन प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी आदि पवित्रात्माओं के प्रभाव साक्षात् देखे हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विचार, चिंतन और कार्यों से जनमानस में सुविचारों की सुरसरिता का प्रवाह प्रवहमान है। वर्तमान पीढ़ी का परम सौभाग्य है कि ऐसे सत्पुरुष का शीतल सान्निध्य मिल रहा है।

बालक कच्ची मिट्टी के समान होता है। कच्ची मिट्टी के लौंदे को कुम्हार उत्तम आकार देकर मंगल कलश बनाता है। उत्तम पुरुषों का सत्संग तथा सत्साहित्य का स्वाध्याय अच्छे विचारों की मनभावन लिपि लिखते हैं। 'संकल्पमयोयं पुरुषः' संकल्प या विचार के अनुरूप मानव ढलता चला जाता है। संकल्प-विचार व्यक्तित्व निर्माण में खाद-पानी का काम करते हैं। नैतिक उन्नति का आधार हैं—नैतिक विचार। नैतिक विचार का प्रभाव आचार पर पड़ता है। सतत सत्संग और सत्साहित्य के स्वाध्याय से

अच्छे विचार परिपक्व होते जाते हैं। साहित्य अनमोल निधि होती है। सत्पुरुषों के सुविचारों का सत्साहित्य जीवंत मंदिर है। सत्साहित्य आशुतोष शिव है, जिनका चिंतन, मनन एवं क्रियान्वयन तत्काल वरदान बन सुख देता है। अतः खान-पान, स्नान और व्यवसायादि कार्यों की तरह स्वाध्याय को भी नित्य जीवन का नियमित अंग बनाना चाहिए।

चरित्र का दर्पण है—विचार। उज्ज्वल विचार मानव को महामानव की कोटि में ला खड़ा करते हैं। परिणाम-द्रष्टा, विचारशील सज्जन सांसारिक भूल-भुलैया से अपनी सुरक्षा कर लेता है। सुलझे विचारवाला न कहीं उलझता है, न किसी को उलझाता है, सीधे मार्ग पर चलता है।

निर्विचार की अवस्था परम शांत पुरुषोत्तम परमात्मा का रूप है। विचारों को शांत करने का बहुत अच्छा उपाय है—श्वास संयम यानी कुभंक। दूसरा उपाय है—जीभ को स्थिर कर लेना, जीभ को दांतों के साथ गहरा दबा देना। जीभ स्थिर करते ही विचार-चिंतन स्वतः रुक जाते हैं। विचारों और जीभ का गहरा संबंध है। तीसरा उपाय है—जीभ को तालु की ओर उलटा लेना। जीभ के उलटते ही विचार प्रवाह एकदम रुक जाता है। निर्विचारता की साधना का लक्ष्य यदि न हो सके, तो प्रतिपल-प्रतिक्षण सुविचार, पवित्र चिंतन का लक्ष्य बनाए रखना चाहिए। इसके लिए—

देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेतिगृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिनेः।।

देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप तथा विसर्जन—ये छह कर्म हर घर में निरंतर चलते रहें। इससे पवित्र विचारों और पवित्र संस्कारों का निर्माण स्वतः हो सकता है। ❖

न जातु कामात् न भयात् न लोभात्
धर्मं त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्यत्वनित्यः—

महाभारत 15.5.50

'न काम के, न भय के, न लोभ के वश, अपनी जीवन रक्षा के लिए भी, मनुष्य धर्म न छोड़े, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख-दुख अनित्य हैं, मनुष्य का जीवात्मा नित्य है, किंतु उसका कारण, जो उसको शरीर में परिसीमित करता है, अनित्य है।'

काम, भय और लोभ के खिंचाव मनुष्य में नैतिक भाव के अवरोधक हैं। जब मनुष्य अपने को देह और इंद्रियों का एक संचय मात्र मान लेता है, तब उपरोक्त प्रवृत्तियों से अपने को प्रभावित होने देता है। शुद्ध आत्मा रूप में वह नित्य है, किंतु देह और इंद्रियों तथा उनके द्वारा किए गए कर्मों के फलों से, जो सब नाशमान हैं, वह प्रतिबंधित है। इस प्रतिबंधन से अंधा होकर वह अपने को एक परिसीमित नश्वर सत्ता मान लेता है। इस प्रकार भ्रांत होकर, वह तात्कालिक वर्तमान के उत्पीड़न से, अपनी निम्न विषयगत प्रकृति के झोंके से हार मान लेता है, जिस प्रकृति का लक्षण है निरंतर तनाव और भय की अवस्था। इस अवस्था में वह सदैव केवल अपना लाभ, इंद्रिय सुंख तथा वंशवृद्धि खोजता है। जब वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप से परिचित होना शुरू करता है, तो मुक्ति की ओर, अपने ऐंद्रिक स्वभाव की पकड़ से भी मुक्ति की ओर अपनी यात्रा आरंभ करता है। यह उसके नैतिक व्यक्तित्व के विकास का लक्षण है। बुद्धिमान निर्भयता और दृष्टि की उदारता और सहानुभूति इस अवस्था की विशिष्टता है, तथा इसके सच्चे अहं का पर्यवसान होता है, आत्मा के, अर्थात् विश्वात्मा के साक्षात्कार में।

—स्वामी रंगनाथानंद

जिसके यहां उनकी पारी शुरू होती है, उसके वहां वह बोझ बन जाती हैं। बहुएं उन्हें ताने देती हैं तथा उपेक्षापूर्वक बासी और अरुचिकर भोजन देते हुए चाहती हैं कि जल्द-से-जल्द उनकी पारी खत्म हो जाए...। इस दुर्दिन में मां ने अपनी लड़कियों को भी परख लिया है। उनकी दो लड़कियां हैं, दोनों अच्छे घरों में ब्याही हैं। लड़कियां चाहती हैं कि मां को रखकर अच्छी तरह खिलाएं-पिलाएं और सेवा करें। लेकिन दामादों को यह बात पसंद नहीं आती है। वे अपनी पत्नियों को कोसते हैं—'सारा धन अपने बेटों को दे रखा है और अब बेटियों के यहां दिन गुजारने आई हैं...।'

कहानी

जी का जंजाल

❑ मिथिलेश्वर

पूजा से निवृत्त होकर मां रसोईघर के बरामदे में आ बैठती हैं और छोटी बहू को आवाज लगाती हैं—'समता की बहू, खाना तैयार हो गया हो तो देना...।'

यह मां का रोज का नियम है—जाड़ा हो या गरमी या बरसात। सुबह नित्यक्रिया से निबटकर या तो वह स्नान कर लेती हैं, या तबीयत ठीक नहीं रहती तो सिर्फ कपड़े बदल लेती हैं और धूप-दीप जला पूजा करने बैठ जाती हैं। पूरे मन से श्रद्धा-भक्ति के साथ वह देर तक पूजा करती रहती हैं। फिर पूजा की समाप्ति के बाद खाना खाने आ जाती हैं।

मां को चार पुत्र हैं—कामता, रमता, भिमता और समता। पति वर्षों पहले दिवंगत हो चुके हैं। उनके चारों पुत्र नौकरी करते हैं तथा अपने परिवारों के साथ अलग रहते हैं। शहर में भिमता और समता एक ही मकान के दो हिस्सों में हैं तथा कामता और रमता दूसरे शहर में रहते हैं। चारों पुत्रों ने आपस में मिलकर यह पारी निर्धारित कर ली है कि मां एक पुत्र के यहां तीन मास रहेंगी। इस तरह चारों पुत्रों के यहां घूमते-घूमते मां का एक वर्ष बीत जाता है। इस समय छोटे पुत्र समता की पारी चल रही है, इसीलिए मां यहां ठहरी हुई हैं।

समता की बहू मां के सामने खाना ला रखती है—भात, दाल और बैंगन की सब्जी। खाना देख मां कहती हैं—'अपने लिए मैंने रोटी बनाने को कहा था बहू!'

जवाब में बहू झनकती है—'बच्चा रो रहा था...रोटी बनाने का समय नहीं मिला...इतना भी बना दिया, यह काफी है...!'

मां कहती हैं—'मुझे बुखार और सर्दी-खांसी है...भात कैसे खाऊं?...और ऊपर से यह बैंगन की सब्जी! यह सब्जी तो मैं खाती नहीं...तुम तो जानती हो, इस सब्जी से मुझे परहेज है...।'

बहू चट-से जवाब देती है—'दूसरी सब्जी कहां से लाऊं? यही सब्जी थी, बना दी...।'

मां दुख प्रकट करते हुए कहती हैं—'इसमें तुम्हारा दोष नहीं है बहू...मेरी किस्मत का ही दोष है...किस्मत फूटी नहीं रहती तो पति को गंवाकर यहां अकेली क्यों पड़ी रहती...!'

यह सुनते ही बहू आगबबूला हो बरसने लगती है—'यह रोज का आपका रोना है...किस दिन आप बीमार नहीं रहतीं?...रोज आपके लिए अलग खाना कहां से बने?... जिसके यहां आपको अधिक मिलता हो, मिले। हमारी जो औकात है उसी के हिसाब से न हम आपको खिलाएंगे... आपके लिए कर्ज लेने तो जाएंगे नहीं...किसी की मजबूरी आपको समझनी नहीं, सिर्फ अपने से मतलब है...।'

खाना देखकर मां का मन ऐसे ही दुखी हो गया था, बहू की जली-कटी बातों से उनकी व्यथा और बढ़ जाती है। थाली आगे सरकाकर वह अपने बिस्तर पर आ पड़ती हैं। उनकी आंखों से आंसू बहने लगते हैं।

वह क्या थीं और क्या हो गई हैं। कभी पूरे घर की स्वामिनी वही थीं। पति उन्हें गृहलक्ष्मी कहते थे। अपनी रुचियों एवं इच्छाओं के अनुसार ही वह घर चलाती थीं, लेकिन आज घर में उनकी स्थिति भिक्षुक की हो गई है। कहां-से-कहां आ गई। प्रभु! किस जनम के पापों का यह फल है...।

मां का मन जब भी पीड़ित होता है, अतीत के दृश्य उनकी आंखों के सामने घूमने लगते हैं, कभी क्रमानुसार तो कभी टुकड़ों-टुकड़ों में बंटकर...।

उनके पति अपने मां-बाप के अकेले थे। मां ने आकर पति के घर को भर दिया था। यह देखकर पति बहुत खुश रहा करते थे। कहते थे—'अब मेरे बाद भी तुम्हें तकलीफ नहीं होगी। इतना बड़ा परिवार है। सब तुम्हें हाथ पर उठाए रहेंगे...।' लेकिन पति के अनुमान को उनके परिवार ने गलत साबित कर दिया है। अगर वह वापस आकर देखते तो उन्हें कितना बड़ा सदमा लगता। कहने के लिए वह इस परिवार की जननी हैं, मां हैं, लेकिन जिस पेट से इस परिवार को जना है, वह पेट अब उनके लिए पहाड़ हो गया है। एक पुत्र के यहां की बात रहती तो वह उसे अपवाद समझतीं। हर पुत्र के यहां की यही स्थिति है। जिसके यहां उनकी पारी शुरू होती है, उसके वहां वह बोझ बन जाती हैं। बहुएं उन्हें ताने देती हैं तथा उपेक्षापूर्वक बासी और अरुचिकर भोजन देते हुए चाहती हैं कि जल्द-से-जल्द उनकी पारी खत्म हो जाए...। इस दुर्दिन में मां ने अपनी लड़कियों को भी परख लिया है। उनकी दो लड़कियां हैं, दोनों अच्छे घरों में ब्याही हैं। लड़कियां चाहती हैं कि मां को रखकर अच्छी तरह खिलाएं-पिलाएं और सेवा करें। लेकिन दामादों को यह बात पसंद नहीं आती है। वे अपनी पत्नियों को कोसते हैं—'सारा धन अपने बेटों को दे रखा है और अब बेटियों के यहां दिन गुजारने आई हैं...।'

इसके अतिरिक्त लड़कों को भी यह बात पसंद नहीं आती है कि मां लड़कियों के यहां रहें। भले ही कष्ट सहकर उनके यहां मर जाएं, लड़कियों के यहां रहेंगी तो उनकी शिकायत होगी। साथ ही उनके मन में इस बात की आशंका भी पैदा होने लगती है कि लड़कियों के यहां रहने पर चोरी-छिपे मां उन्हें पिताजी द्वारा रखे रुपयों में से देना शुरू कर देंगी...।

मां सोचती हैं कि अगर शुरू में ही इस सत्य का ज्ञान उन्हें हो गया होता कि बड़े होने पर उनके बच्चे इस तरह उनसे मुंह मोड़ लेंगे तो उन्हें इतना कष्ट नहीं होता। इस विपत्ति को सहने के लिए वह तैयार रहतीं। लेकिन, वह धोखा खा गई हैं। हालांकि वह देखती आ रही थीं कि शादी के बाद अधिकांश बच्चे मां-बाप का ध्यान नहीं रखते हैं, लेकिन उन्हें लगता कि उनके बच्चे ऐसे नहीं हो सकते। अपना जी-जान लगाकर वह बच्चों को पाल रही थीं। बच्चों के लिए सारी सुख-सुविधाओं को उन्होंने तिलांजलि दे दी थी। इसीलिए बच्चों की उपेक्षा उन्हें बहुत कचोटती है।

मां को लगता है कि उनके पति को इस सत्य का भान था, इसीलिए यह कहते हुए कि इतने बच्चे हैं—तुम्हें तकलीफ नहीं होगी—फिर भी वह मां के नाम पर रुपये जमा करते जा रहे थे। एक अच्छी-खासी रकम मां के नाम पर छोड़कर वह मरे हैं। उस रकम से उनका शेष जीवन अच्छी तरह गुजर जाएगा। वह कोई अमरावती पीकर तो आई नहीं हैं। लेकिन, वह मर्द नहीं, औरत हैं। और औरत को लेकर प्राचीन समय से ही यह मान्यता चली आ रही है कि उसे बचपन में पिता के अधीन, जवानी में पति के अधीन तथा बुढ़ापे में पुत्र के अधीन रहना है। इसी मान्यता के चलते अपने नाम पर पति द्वारा रखी पूंजी का इस्तेमाल वह चाहते हुए भी नहीं कर पाती हैं।

उनके लड़कों ने उनके नाम पर रखे रुपयों को लंबी अवधि के 'फिक्स डिपाजिट स्कीम' के अंतर्गत रखवा दिया है, ताकि वे दुगुने-तिगुने हो सकें तथा चारों भाइयों ने अपने नाम से 'नौमिनेशन' करवा लिया है ताकि उनकी मृत्यु के बाद वे आपस में बराबर-बराबर बांट सकें। पति की साधारण नौकरी से संबंधित पेंशन की जो छोटी रकम मिलती है, वही मां के पास रहती है। उस छोटी रकम से ही मां को अपने कपड़े-लत्ते, पूजा-पाठ की सामग्री और दवा आदि का इंतजाम करना पड़ता है। जिसे वह मुश्किल से ही कर पाती हैं...।

मां को 'फिक्स डिपाजिट' में रुपये रखने की कतई इच्छा न थी। वह चाहती थीं कि रुपये इस रूप में रखे जाएं कि जब इच्छा हो, निकालती रहें। लेकिन लड़कों ने उन्हें बाध्य करं दिया। पिताजी के मित्रों एवं संबंधियों तक से समझवाया। सबने उन्हें यही कहा—'रुपये लेकर आप क्या कीजिएगा? आखिरकार लड़कों के साथ ही आपको रहना है...फिर जैसा कह रहे हैं, वैसा ही क्यों नहीं करती हैं? आपको रखने, खिलाने आदि की जिम्मेदारी ये ले ही रहे हैं...बुढ़ापे में आपको और क्या चाहिए? रुपये तो आपके ही नाम पर रखे हैं...'फिक्स डिपाजिट' के रुपये आप निकाल तो नहीं सकती हैं, ...लेकिन आवश्यकता पड़ने पर

कभी भी तुड़वा सकती हैं, या उस पर 'लोन' ले सकती हैं।'

इस तरह वही हुआ जो उनके लड़के चाहते थे। प्राचीन मान्यता के अनुसार बुढ़ापे में लड़कों के अधीन उन्हें रहना ही था। इस संदर्भ में उन्हें लगता है कि पति का सोचा हुआ नहीं हुआ। पति ने उनके भविष्य के लिए रुपये रखे थे। ताकि अपनी इच्छा के अनुसार वह खर्च कर सकें। लेकिन, लड़कों ने उन्हें अपने भविष्य के लिए रखवा दिया है...।

रोते-रोते मां के आंसू सूख जाते हैं। लेकिन, कोई पोंछने नहीं आता है। अब इन आंसुओं की कीमत ही क्या? कभी इन आंसुओं को देख पति जमीन-आसमान एक कर देते थे। लेकिन, बेटों और बहुओं के लिए ये आंसू अब गंदे जल के सिवा कुछ नहीं रह गए हैं...।

मां सोचती हैं कि बहुएं तो दूसरों के घर से आई हैं, लेकिन बेटे ऐसे कैसे हो गए...? ये वही बेटे हैं, जो उनसे तनिक भी अलग रहना नहीं चाहते थे। इन बेटों की वजह से ही वह पति को भी पूरा समय नहीं दे पाती थीं। भिमता और समता जब छोटे थे तो दोनों उनके अगल-बगल सटकर सोते थे। उनसे कुछ बड़े कामता और रमता भी पास ही उनका हाथ पकड़कर या उनकी साड़ी का छोर पकड़कर सोते थे। उनके स्पर्श के बगैर उन्हें नींद ही नहीं आती थी। लेकिन, अब तो मां के पास कभी भूलकर भी बैठने और दुख-तकलीफ पूछने की उन्हें फुर्सत नहीं मिलती है...।

मां को संतों के प्रवचन में सुनी बात याद आती है—'यहां के रिश्ते स्वार्थ पर आधारित हैं। स्वार्थ पूरा होते, या खंडित होते ही सारे रिश्ते बदल जाते हैं। एकमात्र प्रभु का रिश्ता ही सच्चा होता है।'

मां को लगता है, स्वामीजी महाराज ठीक ही कहते हैं, बचपन और किशोर अवस्था में उनके बच्चों का उनके बगैर काम चलने वाला नहीं था, इसलिए वे उनसे जुड़े थे। लेकिन, अब पत्नी से स्वार्थ सधने लगा है, इसीलिए उन्हें छोड़ पत्नी से जुड़ गए हैं...। इस तथ्य से अवगत होने के बाद वह अपना ज्यादा समय पूजा-पाठ में लगाने लगी हैं। सचमुच, प्रभु के सिवाय कोई अपना नहीं। लेकिन इसके बाद भी उनकी पीड़ा खत्म नहीं होती! शायद मां होने की यह सजा है कि पुत्रों द्वारा मुंह मोड़ लेने के बावजूद उनके प्रति चाहकर भी वह उदासीन नहीं हो पाती हैं। ममत्व की व्यथा से उनका हृदय फटने लगता है...।

अचानक बाहर से दरवाजे पर दस्तक होती है। शायद कोई आया है। बहू जाकर दरवाजा खोलती है। मां आवाज पहचान जाती हैं—समता है। स्कूल की नौकरी से आया है। सुबह का क्लास खत्म हुआ है।

मां सुनती हैं, इससे पहले कि समता कपड़े आदि बदलकर खाना खाने के लिए हाथ-मुंह धोता, पत्नी उसे उनके विरुद्ध भड़काती है—'फिर आज मां 'कोप-भवन' में पड़ी हैं...खाना नहीं खाया...यह खाना उन्हें पसंद नहीं... अब आप ही बताइए, उनके लिए मैं रोज दस प्रकार का खाना कहां से बनाऊं? इनकी पारी आती है तो परेशान करके छोड़ती हैं...अनेक समस्याओं से हम परेशान हैं, ...लेकिन उन्हें तो सिर्फ अपनी सूझती है...।'

पत्नी की बात सुन समता सीधे मां के पास पहुंचता है। मां ने खाना क्यों नहीं खाया? आज मां की तबीयत कैसी है? ये सवाल वह नहीं पूछता है। शायद इसकी आवश्यकता ही नहीं समझता! पहुंचते ही उबल पड़ता है—'सचमुच आपने तबाह कर रखा है। इतने कम वेतन में मैं कैसे घर चलाता हूं, इस पर तो आपने कभी नहीं सोचा...। आपको तो तरह-तरह का खाना चाहिए।'

मां कहती हैं—'शोर मत मचाओ समता, मैं तरह-तरह का खाना नहीं मांग रही हूं...। मेरी तबीयत ठीक नहीं, इसलिए नहीं खाई।'

इस पर समता कहता है—'यह एक दिन की आपकी बीमारी नहीं, बुढ़ापे की बीमारी है...। मैं आपसे कई बार कह चुका, अपने नाम पर रखे रुपये तुड़वाकर जो खाने की इच्छा हो बनवा लिया कीजिए। घर में रुपये रहेंगे नहीं तो औरतें क्या बनाकर देंगी?...आप रुपये देकर तो देखिए, क्या नहीं बन जाता है? आप किसी से तनिक भी मत डरिए, कोई आपका कुछ नहीं करेगा। आपके रुपये हैं...जो अभाव में है, उसके यहां आपको डर-भय छोड़कर खर्च करना चाहिए।'

यह सुनकर मां कहती हैं—'जा-जा, मुझे न सिखा, तुम सबों को मैंने देख लिया...तुमको दूंगी तो वे तीनों छोड़ देंगे? कलेजे पर चढ़कर वसूल कर लेंगे। फिर भी जिस दिन देना था, सबों से लुका-छिपाकर तुम्हें बहुत-कुछ दिया है...और बेटे के यहां रुपये देकर मां खाए और रहे तो इससे तो बढ़िया होगा कि वह किसी कुएं में डूब मरे।

इस पर समता और नाराज हो उठता है—'इसीलिए आप भोग रही हैं और अभी और भोगिएगा...किस लड़के की कैसी आमद है, इस पर आपने कभी विचार नहीं किया है।'—और यह कहते हुए वह वहां से चला जाता है।

मां का मन इस बात के लिए तड़प जाता है कि उनके बीमार और दुखी मन की बात भी समता प्रेम से नहीं सुन सका। अगर आत्मीयता से वह उनकी व्यथा सुन लेता और सिर्फ शाब्दिक सांत्वना भी दे देता तो उनकी आधी बीमारी ठीक हो जाती। लेकिन, अब किसी भी लड़के के यहां उनकी यह इच्छा पूरी होने वाली नहीं। फिर भी उनसे यह आस छूटती नहीं। वह प्रतीक्षा करती ही रहती हैं...अंतहीन निरर्थक प्रतीक्षा...।

समता की बात से मां की व्यथा और अधिक बढ़ जाती है। हमेशा की भांति वह महसूस करती हैं कि सबकी निगाहें उनके नाम पर रखे रुपयों पर ही टिकी हुई हैं। सब यही चाहते हैं कि जिनके यहां उनकी पारी चल रही होती है, उसके यहां वह चोरी-छिपे कुछ रुपये दिया करें। लेकिन दूसरी ओर अपनी निगाह भी चौकन्ना रखते हैं कि मां किसी को दे तो नहीं रही हैं। सब अकेले-अकेले ही हड़पना चाहते हैं, इसीलिए सबको एक-दूसरे पर शक रहता है। वह सिर्फ नाम के लिए उन रुपयों की स्वामिनी हैं, उनका वास्तविक हिसाब तो वे चारों अपने पास रखते हैं। एक लड़के के यहां की पारी खत्म कर जब दूसरे लड़के के यहां पहुंचती हैं तो सबसे पहले वह लड़का उनके रुपयों का हिसाब ले लेता है कि कहीं पहले ने फुसलाकर उनका कोई 'फिक्स डिपाजिट' तो नहीं तुड़वा दिया।

मां को याद है, पति के मरने के बाद अपनी पत्नियों के कहने में आकर ये लड़के जब एक-दूसरे से अलग हुए थे, उस वक्त कामता और रमता अपनी नौकरी में लग चुके थे। भिमता भी एक जगह लग गया था। लेकिन, समता बेरोजगार था। उस वक्त उन्होंने तीनों से छिपकर समता की मदद शुरू की थी। भाइयों ने साथ छोड़ दिया। लेकिन, मां होकर वह कैसे साथ छोड़ें? वह समता के परिवार के साथ ही रहतीं और उसके सारे खर्च झेलतीं। अपनी दवा के बहाने एक 'फिक्स डिपाजिट' उन्होंने तुड़वा लिया था। लेकिन, इसके लिए तीनों लड़के उनसे खूब लड़ते और उन्हें कोसते। उनके रुपयों पर वे समान अधिकार समझते थे और नहीं चाहते थे कि एक पैसा भी किसी में अधिक खर्च हो...। वह लाख छिपाकर समता के यहां खर्च करती थीं, सब जान ही जाते। इस पर वह क्रुद्ध होकर जब उनसे पूछतीं—'तुम सब नौकरी करते हो, वह बेरोजगार है। बड़ा भाई होने के नाते तुम तीनों को उसकी मदद करनी चाहिए थी, ...लेकिन तुम सबों को उससे कोई मतलब नहीं। 'बांटा भाई पड़ोसी' वाली कहावत के अनुसार तुम लोगों ने उसे छोड़ दिया है। लेकिन, मां होकर मैं कैसे छोड़ दूं?'

इस पर वे कहते—'नौकरी नहीं लगी है तो ट्यूशन आदि करे...संघर्ष करे..., बैठकर पिताजी के रखे रुपये खाने से तो समस्या हल नहीं होगी। पिताजी तुम्हारे लिए रुपये रख गए हैं। खर्च हो जाएंगे तो फिर तुम्हें कौन देगा? आज समता तुमसे रुपये ले रहा है..., नौकरी लग जाएगी तो आज की तरह पूछेगा? उस वक्त तुम्हारा ज्ञान खुल जाएगा, लेकिन तब पछताकर ही क्या करोगी?'

सचमुच तीनों के कथनानुसार नौकरी लगते ही समता उन्हीं की तरह हो गया। लेकिन, अगर वह इस सत्य से पहले ही अवगत होतीं तो क्या समता को छोड़ देतीं? उन्हें लगता है कि भले ही लड़के हृदयहीन हो जाएं, मां हृदयहीन नहीं हो सकती। उससे हुआ ही नहीं जा सकता। शायद मां और बेटे में यही अंतर होता है।

उन दिनों से समता से बड़े तीनों लड़कों के मन में यह बात बैठी हुई है कि मां ने समता के लिए अधिक खर्च किया है। इसके विपरीत समता के मन में यह बात है कि बड़े भाइयों की तुलना में उस पर कुछ खर्च नहीं हुआ है। पहले संयुक्त परिवार था। पिताजी कमाते थे। पढ़ने-लिखने से लेकर नौकरी लगने तक सबकी आवश्यकताएं पैतृक जायदाद से ही पूरी होती थीं। लेकिन, भाइयों ने उसे तब अलग किया, जब वह कहीं का नहीं था। इस स्थिति में पैतृक जायदाद का समान उपयोग उसमें कहां हो पाया?

उनके नाम पर रखे रुपयों को लेकर आए दिन लड़कों में होने वाले विवाद को देखते हुए कुछ निकटतम संबंधियों ने उन्हें सुझाव दिया है कि चारों लड़कों में बराबर-बराबर रुपयों को बांटकर वह इस झमेले से मुक्त हो जाएं। लेकिन, भिमता और समता इस बात पर राजी होते हुए भी कहते हैं—'ठीक है...लेकिन, यह उचित बंटवारा नहीं होगा... मां-बाप को चाहिए कि हर लड़के को बराबर करके तब बंटवारा करे, नहीं तो आर्थिक दृष्टि से जो कमजोर है, उसे अधिक दे और जो मजबूत है उसे कम।'

पर, कामता और रमता कहते हैं—'कोई अधिक कमाए या कम, मां-बाप के धन पर सभी भाइयों का बराबर हिस्सा होता है..., किसी की किस्मत में दुख लिखा है तो बेईमानी से सुख तो नहीं मिल जाएगा..., मां भी बेईमानी करेंगी तो नरक में जाएंगी—उनके लिए चारों लड़के समान हैं।'

इस पर क्रोध में आकर वह कई बार पूछ चुकी हैं—'मां बेईमानी करेगी तो नरक में जाएगी, लेकिन पुत्र बेईमानी कर रहे हैं तो कहां जाएंगे?'

लेकिन, उनके ऊपर इस सवाल का असर नहीं पड़ता है। उनकी निगाह तो मां के नाम पर रखे रुपयों पर टिकी रहती है। स्वर्ग-नरक की दलील भी उनके रुपये हथियाने के लिए ही वे देते हैं।

इसके अतिरिक्त यह सोचकर भी मां नहीं बांटती हैं कि जीते-जी अपना हाथ काट देना ठीक नहीं होगा। उनके नाम पर रुपये हैं तब तो उनकी यह स्थिति है। अगर रुपये नहीं रहेंगे तो बहुएं पारी पर भी उन्हें नहीं पूछेंगी...दुत्कार देंगी...! लेकिन फिर उन्हें लगता है कि ऐसा वह बेकार ही सोचती हैं। अपनी तरह अनेक विधवा और बूढ़ी औरतों को वह देख रही हैं। सबके नाम पर उनकी तरह रुपये नहीं हैं। फिर भी उनका जीवन उनसे सुखी है। बेटा-पतोहू उन्हें मानते और सेवा करते हैं। लेकिन, यह सोचने के बावजूद अंदर से उनका मन रुपये बांट देने के लिए कभी तैयार नहीं होता है। पति और पुत्र की तरह ही रुपये से आसक्ति भी छूटती नहीं है...।

भिमता की मोटरसाइकिल वाली घटना याद आती है तो आज भी उनके कलेजे में एक हूक-सी उठती है। भिमता का कारखाना इस शहर से काफी दूर है। कारखाने के प्रायः सभी कर्मचारी स्कूटर, मोटरसाइकिल आदि से आते-जाते थे। लेकिन भिमता साइकिल से जाता था। धूप में वह जब साइकिल से इतनी लंबी दूरी तय करके आता तो उसका चेहरा सूखा और मुरझाया हुआ लगता। यह देखकर उनका मातृत्व छटपटा जाता। इस पर भिमता अनुकूल अवसर देख कहता—'इतने कम वेतन में मोटरसाइकिल कहां से लूं मां, समझ नहीं पाता हूं। साइकिल से आते-आते तो लगता है, प्राण निकल जाएंगे...। पी. एफ. आदि से ऋण लेकर आधे रुपये जुटा सकता हूं...अगर आधा आप दे दें तो मोटरसाइकिल ले लेता। यह बात कोई जानता भी नहीं। बाद में पैसे होने पर मैं आपको दे देता।'

भिमता की यह बात सुन और उसकी स्थिति देख मां धर्मसंकट में पड़ गई थीं। कभी मन करता कि दे दें। बेटा जब इतने दुख में है तो वह रुपये रखकर क्या करेंगी? लेकिन, फिर सोचतीं, जान जाने पर वे तीनों उनकी यह सफाई नहीं सुनेंगे, सब अपनी समस्या को बढ़ा-चढ़ाकर सुनाने लगेंगे। उन्हें तबाह कर देंगे। उनका जीना मुश्किल हो जाएगा...।

लेकिन, भिमता आग्रह करता रहा और अपनी व्यथा उन्हें सुनाता रहा। साथ ही उसने उनकी खुशामद भी शुरू कर दी। फैक्ट्री से लौटते ही खोजता—मां कहां हैं?— और उनके पास जा बैठता। अपनी पत्नी को डांटकर जबरन मां की सेवा कराता, स्वयं भी मां की सेवा में लगा रहता। मां का ममतामयी, निष्कपट हृदय जल्द ही पिघल गया और ऐसा पिघला कि सब-कुछ भूल वह भिमता के साथ चुपके-से बैंक जा पहुंची और एक 'फिक्स डिपाजिट' तुड़ा उसे धन दे दिया। मोटरसाइकिल खरीदकर भिमता खुशी से झूम उठा।

लेकिन, जाने कैसे, जल्द ही यह बात सब जान गए? शायद समता की बहू को खबर मिल गई थी। फिर तो सब आ जुटे और घर में वह कुहराम मचा, वह महाभारत छिड़ा कि लगता, चारों बेटे आपस में ही कटकर मर जाएंगे। उनकी लड़ाई जब अन्य किसी तरह शांत नहीं हुई तो हार-थककर उन्होंने जितने रुपये भिमता को दिए थे, उतने-उतने रुपये तीनों को भी दिए। लेकिन, इस क्रम में उनके आधे रुपये निकल गए। लड़कों का झगड़ा तो उन्होंने शांत करा दिया, लेकिन अपने रुपयों की हूक से वह खाट पर पड़ गईं। अभी इतनी जल्दी वह बूढ़ी न होतीं। लेकिन, रुपये चले जाने की आह ने उन्हें असामयिक बुढ़ापे का शिकार बना दिया है। तरह-तरह की बीमारियों ने आ दबोचा है। पुत्र-शोक सहा जाता है, धन-शोक नहीं।

दोपहर ढलने लगती है। मां ऐसे ही चुपचाप पड़ी रहती हैं। समता की बहू दुबारा उन्हें खाने का आग्रह करने के लिए नहीं आती है और न उनका कुशल-समाचार पूछने ही। अगर वह चाहती तो इस बीच उनके लिए दो रोटियां पका सकती थी। उन्हें किसी भी सब्जी से उतनी प्रीत नहीं। नमक-तेल के साथ ही वह रोटियां खा लेतीं। लेकिन, उनको लेकर बहुओं के मन में श्रद्धा और प्रेम हो तब न! उनके न खाने पर वे मन-ही-मन सोचती हैं कि चलो, एक दिन का खाना तो बचा...।

अचानक किसी के आने की आहट होती है। फिर भिमता की बहू की आवाज सुनाई पड़ती है—'मां सो गई हैं क्या?'

मां जवाब देती हैं—'नहीं तो...।'

भिमता की बहू उनके करीब चली जाती है। इसी मकान के दूसरे हिस्से में रहती है। मां के मन में यह विचार उठता है कि यह सुनकर कि वह बीमार हैं और रोटी नहीं खाई है, कहीं भिमता की बहू उन्हें अपने यहां खिलाने ले चलने तो नहीं आई है! लेकिन यह अनहोनी कैसे हो सकती है? अपनी पारी पर तो वह अच्छी तरह खिलाती नहीं,

दूसरों की पारी पर कैसे खिलाएगी...? मां का अनुमान सही साबित होता है। भिमता की बहू एक दूसरे उद्देश्य से आई है। अपनी गोद के बच्चों की ओर संकेत करती हुई कहती है—'बबलू बड़ा तंग कर रहा है मां, ...रो रहा है...अभी घर के सारे काम पड़े हुए हैं...इसे थोड़ी देर आप खेलातीं तो मैं जाकर कई काम निबटा लेती...।'

मां कहती हैं—'मेरी तबीयत ठीक नहीं बहू...।' यह सुन भिमता की बहू चल देती है। गुस्से में पांव पटकते जा रही है। दरवाजे से बाहर निकलने के बाद उसकी आवाज मां को साफ सुनाई पड़ती है—'मेरी पारी नहीं है तो मेरा बच्चा कैसे लेंगी?...जिसकी पारी में खाती हैं, उसी का बच्चा जो खेलाती हैं...।'

मां का मन क्रोध से भर जाता है। इच्छा होती है कि चिल्लाकर कहें—मैं तुम सबों की नौकरानी नहीं कि बच्चे खिलाऊंगी तो खाना पाऊंगी। ममता और प्रेम की वजह से बच्चों को खेलाती हूं...और खाना तुम सब मुफ्त में नहीं खिलाती हो, यह बात अपने मन से निकाल देना, ...बेटों को पाल-पोसकर तुम्हें दे दिया है, ...पति का सारा धन दे दिया है, ...मेरे नाम पर जो रुपये हैं, मरने के बाद वह सब भी तुम्हीं लोगों का होगा, ...इसी एवज में खिलाती हो...। लेकिन, कह नहीं पाती हैं। शरीर जब कड़ा था तो खूब कहती थीं। एक का दस सुनाती थीं। लेकिन, अब तो दो-चार बातें बोलने पर ही गिरकर हांफने लगती हैं। इस स्थिति में बहुएं तो चाहती हैं कि लड़-लड़ाकर जल्द ही उन्हें खत्म कर दें। लेकिन प्रभु उन्हें बचाए हुए हैं...।

मां शुरू से ही देखती आ रही हैं, थोड़ा-सा भात या दो रोटियां वह क्या खाती हैं, बहुएं चाहती हैं कि रात-दिन उनके बच्चों को गोद में लिए रहें। भिमता की बहू और समता की बहू इस बात की नाराजगी अपने मन में बराबर पाले रहती हैं कि कामता की बहू और रमता की बहू के बच्चों की तरह उनके बच्चों को पालने में मददगार साबित नहीं हुई हैं। लेकिन, इसमें उनका क्या दोष? उस वक्त शरीर मजबूत था। अब तो अपनी देह ही उनके लिए बोझ हो गई है, बच्चों को वह कैसे पालें? लेकिन, उनकी यह मजबूरी तो बहुओं को समझनी है नहीं...।

मां सोचती हैं कि उनके नाम पर जो रुपये हैं, मरने के बाद ये ही चारों ले लेंगे, तब फिर इस लालच में अच्छी तरह उनकी सेवा क्यों नहीं करते हैं? इस पर उन्हें लगता है कि सभी बेटे-पतोहू यह सोचते हैं कि अच्छी तरह सेवा करें या न करें, हिस्सा तो सबको बराबर ही मिलना है।

मां को याद है, चारों बेटों और चारों बहुओं में कामता की पत्नी और रमता उन्हें विशेष मानते थे। यह देखकर उन्हें भी संतोष होता था कि एक बहू और एक बेटा सही निकल गए। बुढ़ापे में उन्हें तकलीफ नहीं होगी। लेकिन, बाद में यह सोचकर कि कोई सेवा करे या न करे, मां के नाम के रुपये बराबर लेंगे—वे दोनों भी उनकी तरह ही हो गए...।

इस संदर्भ में कई लोगों ने उन्हें सुझाव दिया है और खुद उनके मन में भी यह बात उठती है कि वह किसी एक लड़के के साथ ही रह जाएं। चार दरवाजे की नोक-झोंक से उनकी जान भी बच जाएगी। लेकिन, यह उनसे हो ही नहीं पाता है। लड़के उनसे मुंह मोड़कर रह लेते हैं। लेकिन, लड़कों से मुंह मोड़ना उन्हें अच्छा नहीं लगता। उनका कलेजा टुकड़े-टुकड़े होने लगता है। उन्हें लगता है, मां और बाप में यही अंतर होता है। अगर बाप होते और उनके नाम पर ये रुपये रहते तो सबों को झटककर मौज की जिंदगी जीते। लेकिन, मां होने के चलते वह चार दरवाजों का कुत्ता बनी हुई हैं...।

इसके अतिरिक्त इस चिंता से भी वह किसी एक लड़के के यहां नहीं रहती हैं कि अन्य तीन लड़के उसके दुश्मन हो जाएंगे। उसे सही-सलामत नहीं रहने देंगे। उनके रुपयों पर वे समान अधिकार समझते हैं। उनका मन गुस्से में उबलने लगता है—सेवा करने के लिए कोई नहीं, लेकिन धन-संपत्ति बांटने के लिए सभी हैं। हे भगवान! यह कैसा युग आ गया है।

शाम घिरने लगती है, उन्हें पूछने कोई नहीं आता है। उनके मन में यह बात उठती है कि वह बेकार आस लगाए बैठी हैं। कोई उन्हें मनाने नहीं आएगा। प्रभु के सिवाय उनका अपना अब है ही कौन? सांझ हो चली है। प्रभु की मूर्ति के सामने उन्हें धूप-दीप जलाना चाहिए...। और यह सोचकर वह उठना ही चाहती हैं कि अचानक भिमता आ जाता है—'अभी तक सोई हैं क्या मां?'

वह कहती हैं—'सोई नहीं हूं—ऐसे ही पड़ी हूं।'

भिमता कहता है—'सुना, आज आपने कुछ खाया नहीं—आपकी तबीयत खराब है...।' और भिमता मां के समीप पहुंच उनके माथे पर हाथ रखता है—'अभी तो आपको हल्का-हल्का बुखार है। आपने मुझे बताया क्यों नहीं?'

मां के मन में संशय पैदा होता है, आज अचानक भिमता को इस तरह मां के ऊपर प्रेम क्यों उमड़ आया है, जरूर कोई बात होगी! लेकिन, फिर उनका निष्कपट मातृत्व आर्द्र हो जाता है, ऐसी बात नहीं हो सकती...उनका अपना बेटा है...देर-सबेर मां की याद आएगी ही...। वह कहती हैं—'क्या बताऊं, यह तो मेरी रोज की बीमारी है।'

भिमता कहता है—'लेकिन इसमें खाना छोड़ने की तो कोई बात नहीं।'

वह कहती है—'समता की बहू ने भात बनाया था...सर्दी-बुखार की वजह से भात नहीं खाई।'

इस पर भिमता कहता है—'तो मेरी पत्नी से कहकर आपने क्यों नहीं रोटियां बनवा लीं...।'—और वह आवाज लगाकर अपनी पत्नी को बुलाता है और कहता है—'मां के लिए सब्जी और परांठे तैयार कर जल्दी ले आओ।'

मां के अंदर पुनः संशय पैदा होता है। कहीं अपना मकसद साधने के लिए तो भिमता नहीं आ पहुंचा है। लेकिन, फिर नदी की तरह उमड़ आया उनका मातृत्व संशय को डूबा देता है।

भिमता कहता है—'आपका स्वास्थ्य गिरा जा रहा है मां...आप अपने स्वास्थ्य पर ध्यान क्यों नहीं देती हैं?'

फिर कहता है—'आप सुबह-शाम टहला कीजिए मां, ...बुढ़ापे में गठिया से बचने के लिए टहलना चाहिए।'

फिर कहता है—'आपका जीना हम लोगों के लिए बहुत आवश्यक है मां, ...आप हैं तो लगता है सब-कुछ है, ...आप हम चारों भाइयों के बीच पुल बनी हुई हैं...।'

भिमता की बातों से मां के अंदर अचानक एक नई शक्ति का संचार हो जाता है। उन्हें लगता है, वह ठीक हो गईं...सारी बीमारी भाग गई...। कहती हैं—'मैं ठीक हूं भिमता...।'—और वह भली-चंगी औरत की भांति उठ बैठती हैं।'

थोड़ी देर बाद भिमता की पत्नी गरम-गरम परांठे और सब्जी लेकर आती है। भिमता स्वयं पानी ले आता है और मां का हाथ धुलवाकर उन्हें खिलाने लगता है। प्रेम से दिया हुआ खाना खा मां तृप्त हो जाती हैं। उनके रोम-रोम से और हृदय से भिमता के लिए दुआएं निकलने लगती हैं। मन-ही-मन वह प्रभु से कहती हैं—भिमता को युग-युग जिआओ प्रभु! बेटा हो तो भिमता की तरह।

लेकिन, यह क्या! खाना खाकर अभी वह इतमीनान की सांस ही लेती हैं कि भिमता कहता है—'हाउसिंग बोर्ड की ओर से विज्ञापन निकला है मां...कुछ हजार रुपये देकर अपना नंबर लगाना है...शेष रुपये किस्तों में दिए जाएंगे...यह अच्छा अवसर आया है मां...पता नहीं, फिर कभी इस शहर के लिए निकलेगा या नहीं...।

मां को अपनी आशंका सही लगने लगती है। उनका मन तिक्त हो जाता है। प्रेम से खाना खिलाकर भिमता ऊपर से जहर देने लगा है। वह चुप ही रहती हैं।

भिमता कहता है—'कामता भैया और रमता भैया ने वर्षों पहले मकान के लिए नंबर लगा रखा है...एक-दो साल में उन्हें मकान मिल जाएंगे...अपने मकान, ...लेकिन मेरे पास रुपये नहीं।'

फिर अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहता है—'आप दे देतीं मां तो मकान के लिए नंबर लगा देता, ...भैया लोगों की तरह मेरा भी अपना मकान हो जाता।'

जिस बात का डर था मां को, वह घटित हो ही जाती है। जानतीं तो भिमता के परांठे न खातीं...। कहती हैं—'मोटरसाइकिल वाली बात तुम्हें याद है न भिमता, ...तुमको दूंगी तो वे तीनों छोड़ देंगे क्या?'

भिमता कहता है—'कामता और रमता भैया के नाम पर तो मकान हो ही रहे हैं माँ, ...इस बार वे हमला करेंगे तो महल्ले की पंचायत जुटाई जाएगी, ...एक भाई महल में रहे और एक भाई झोंपड़ी में, ...यह उचित नहीं, ...मां को अधिकार है कि वह सबको बराबर कर दे।'

मां कहती हैं—'भाइयों के झगड़े महल्ले वालों से नहीं छूटते, ...वे नहीं मानेंगे...और फिर कामता और रमता को मकान मिल रहे हैं, लेकिन समता तो तुम्हारी तरह ही है...।'

भिमता को लगता है कि मां रास्ते पर आ रही है। वह एक क्षण के लिए मां के पास से हटकर समता के पास जाता है और उसे समझा-बुझाकर मां के पास ले आता है। इस बार समता कहता है—'भिमता भैया ठीक ही कह रहे हैं मां, ...हम दोनों का नंबर लगवा दीजिए ताकि कामता और समता भैया की तरह हमारे भी अपना मकान हो जाएं...। जब तक आप सहयोग नहीं कीजिएगा, हम अपनी सीमित आय से कुछ नहीं कर पाएंगे।'

मां कहती हैं—'तुम्हारी तरह ही उन दोनों की निगाह भी मेरे रुपयों पर है, ...कोई एक-दूसरे की मजबूरी नहीं समझेगा...।'

इस पर भिमता कहता है—'आप इसके लिए चिंता मत कीजिए मां..., हम लोग उन लोगों से सुलट लेंगे, ...पिछली बार की बात नहीं है, ...आपके न रहने पर भले ही लोग बराबर बांटेंगे...जिंदगी में तो आप जिसको जो दे दें, उसका हो जाएगा। फिर कोई कुछ नहीं कर पाएगा...।'

मां कहती हैं—'क्या होगा, मैं सब जानती हूं। तुम्हारी तरह ही वे दोनों भी कहते हैं। रुपये के लिए वे भी लड़ने को तैयार हैं...। इसके साथ मेरे पास अब अधिक रुपये हैं ही कहां कि मैं दूं..., अभी तो मेरा ही जीवन बाकी है...।'

इस पर समता कहता है—'हम शराब पीने और ऐश-आराम में लुटाने के लिए तो रुपये नहीं मांग रहे हैं, ...मकान लेने के लिए मांग रहे हैं...मां-बाप के धन का सदुपयोग तो ऐसे ही कार्यों में होता है। ...साथ ही यह आपका धर्म है कि चारों लड़कों को कम-से-कम आवास के मामले में बराबर कर दें।...आपके सिवाय हम और किससे कहने जाएं? भैया लोग तो बात सुनेंगे नहीं। ...आप मां हैं...आपके ही पास रोना और विनती करना है।'

मां को लगता है कि समता और भिमता अब ममत्व प्रदर्शन करते हुए उनके मातृत्व को पिघलाने की कोशिश करेंगे। लेकिन, अर्थ के मामले में उन्हें गहरी ठेस लग चुकी है। अपना हाथ काट दें और ऊपर से घर में फिर महाभारत को निमंत्रण दे दें, यह वह कभी नहीं करेंगी। इसीलिए निष्कर्ष रूप में अपना निर्णय सुना देती हैं—'मैं तुम दोनों से हाथ जोड़ती हूं, रुपयों का जिक्र मुझसे न करो...। चाहे जहां से हो, स्वयं जुटाओ, मुझसे रुपये न मांगो...।'

मां की यह बात सुन भिमता के चेहरे की त्यौरियां बदल जाती हैं। कहता है—'मैं जानता था आप नहीं देंगी। स्वार्थी हैं। आपमें न्याय की क्षमता नहीं...आप सही मां नहीं...।' और समता को संबोधित करते हुए कहता है—'चलो समता, इनसे कहना बेकार है...यह सिर्फ अपना पेट पालना जानती हैं। ...पैदा करके हमें भाग्य के भरोसे छोड़ दिया है...।'—और दोनों वहां से दरवाजे पर चले आते हैं। फिर एक ही साथ बैठकर उन्हें कोसने लगते हैं। भिमता कहता है—'ऐसी मां हमने नहीं देखी, जिसे बाल-बच्चों की नहीं, अपनी ही चिंता है...।'

समता कहता है—'आप बेकार इन्हें पूछते हैं...नहीं खाई थीं...नाराज होकर पड़ी थीं, तो छोड़ देते...।'

भिमता कहता है—'हम दोनों भाइयों को शुरू से ही बड़े भाइयों की तुलना में ये कम मानती हैं...।'

इस पर समता कहता है—'इनकी जगह दूसरी कोई मां रहती तो ऐसे कार्य के लिए बिन मांगे रुपये दे देती। मां-बाप तो बाल-बच्चों के लिए ही न रुपये रखते हैं—खासकर आर्थिक दृष्टि से कमजोर बच्चों के लिए...।'

भिमता कहता है—'रुपये रखकर अचार डालेंगी। ...इनके रुपयों की...।'

वे देर तक उनके बारे में अनाप-शनाप बकते रहते हैं। उनकी बातें मां के कलेजे में तीर की तरह लगती हैं। उनका कलेजा छलनी हो जाता है। व्यथा के वेग में उनकी इच्छा होती है कि जाकर बता दें कि उन्होंने उन सबों के लिए क्या किया है और वे उनके लिए क्या कर रहे हैं। उन जैसी मां के ऋण से वे कई जन्मों में भी उऋण नहीं होंगे...। लेकिन, चुपचाप पड़ी रहती हैं। जानती हैं, रुपयों के लोभी उनके पुत्रों पर किसी भी तथ्य का असर होने वाला नहीं। रात गहरा जाने पर भिमता और समता अपने-अपने घरों में चले जाते हैं। फिर खाना खा अपने-अपने परिवार के साथ सो रहते हैं, लेकिन मां जगी रहती हैं। और अपनी किस्मत पर रोती रहती हैं। ऐसी औलाद से 'निसंतानी' और 'निपुत्तर' रहती तो ठीक था। किसी मंदिर या मठ में जीवन गुजार देती।

मां की व्यथा इतनी बढ़ जाती है कि बिस्तरे से उठ, वह प्रभु की मूर्ति के पास जा बैठती हैं और मौन विलाप करने लगती हैं—'अब और क्या दिखाने के लिए रखे हो प्रभु...वहीं ले चलो जहां पति गए हैं। ...पुत्रों के घर में अब और नहीं रहा जाता...।'

मां को लगता है कि उनके नाम पर जमा रुपये ही सारे उपद्रवों की जड़ हैं। कभी यह बात उन्हें बहुत अच्छी लगती थी कि पति ने उनके नाम पर रुपये रखकर अच्छा किया है। लेकिन, अब उन्हें लगता है कि ठीक नहीं किया है। उनकी इच्छा होती है कि सारे रुपये पुत्रों में बांट दें। न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी। लेकिन फिर यह चिंता सताने लगती है कि रुपयें देकर तो और असहाय हो जाएंगी। रुपये हैं तब तो उनकी यह स्थिति है। नहीं रहेंगे तो लड़के और बहुएं बांह पकड़कर अपने दरवाजे से निकाल देंगे। तब वह क्या करेंगी...?

प्रभु की मूर्ति के सामने वह विकल हो माथा पटक रोने लगती हैं—'कुछ समझ में नहीं आ रहा है प्रभु, क्या करूं? तुम ही कोई रास्ता निकालो।' ❖

कुंवरनारायण की कविताएं

•

चेतन के पीछे

तुम निज मनोविकार स्वप्न रच
निर्विकार निर्द्वंद्व हो गए
मुझमें भर अपना भवसागर
स्वयं व्योम निस्पंद हो गए,

तेरी छायाओं के कौतुक
मेरे अंतर्द्वंद्व हो गए,
तेरी जड़ताओं से मुंदकर
प्राण प्रज्वलित मंद हो गए :

ओ संपूर्ण दृश्य के स्रष्टा!—
तेरी दृष्टि कहां मैं पाऊं?

खुलते जिस जागृति से तम-पट
मेरे वे दृग बंद हो गए :

धरती से उठ एक चेतना
बनती जीवन राग ज्योति पर...

द्युति अक्षर में लिखे शून्य पर
तुम अनचीन्हे छंद हो गए,
बोकर विकल बीज मिट्टी में
तुम सत् चित् आनंद हो गए।

•

शून्य और अशून्य

एक शून्य है
मेरे और तुम्हारे बीच,
जो प्रेम से भर जाता है :

एक शून्य है
मेरे और संसार के बीच,
जो कर्म से भर जाता है :

एक शून्य है
मेरे और अज्ञात के बीच,
जो ईश्वर से भर जाता है :

एक शून्य है
मेरे हृदय के बीच,
जो मुझे मुझ तक पहुंचाता है।

•

गहराइयों की ओर

स्वीकार करो, ओ स्रष्टा,
मेरी भी एक चुनौती...
यदि स्वाति बूंद सच्ची थी
तो सच्चा है यह मोती :

तुम व्योम-पक्ष, मैं वस्तु-पक्ष,
हम बंधे चेतना पल में,
वह चुप रहस्य सीपी-सा
जो डूबा किसी अतल में :

मेरी सीमा में बंदी
तुम एक अमूल्य धरोहर,—
वह तेज प्रकाशित रखता
जो यह सूना बंदीघर :

तुम स्वप्नकार हो मेरे,
मैं तुम्हें केंद्र कहता हूं,
अपने सपनों में तुमको
फिर बार-बार रचता हूं :

तुमसे मेरी सीमाएं
बन क्षितिज वहां मिल जातीं...
जब सृष्टि तुम्हारी मुझमें
मेरा सपना हो जाती।

❖

शीलन

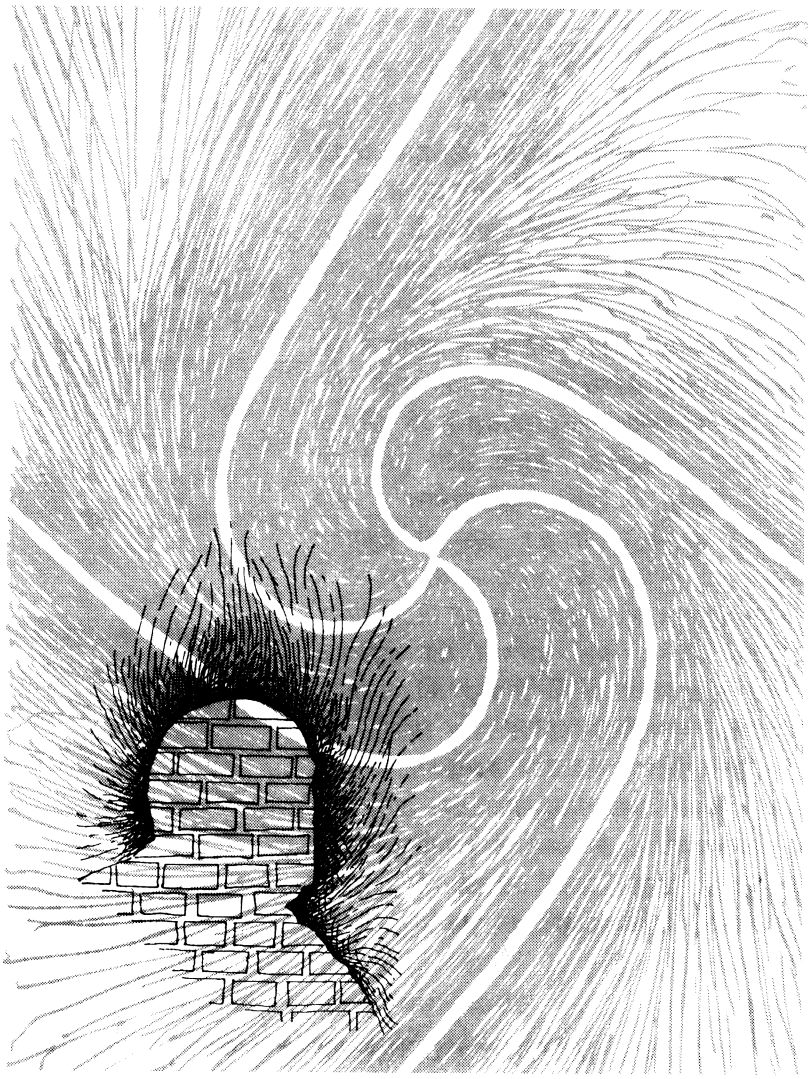

इतिहास समग्र है, अनवरत और सार्वभौमिक है, क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर है। इसी प्रकार संस्कृति समग्र है, अनवरत और सार्वभौमिक है, क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर है। दिक्-काल में कोई ऐसा बिंदु नहीं, जहां मनुष्य खड़ा होकर कह सके—'इससे परे ऐसा कुछ नहीं जो मुझे प्रभावित कर सके।' परिवर्तन संस्कृति के अवयवों का निर्माता-नियामक है और स्वयं परिवर्तन एक बड़ी सीमा तक जातीय प्रभावों का परिणाम है। इस प्रकार संस्कृति समान प्रयत्नों से उत्पन्न समान विरासत है, संयुक्त और समन्वित प्रयासों का प्रतिफलन है। खंड जुड़कर सर्वांग बनाते हैं और सर्वांग खंडों के समाकलित नैरंतर्य से एक इकाई बन जाता है। यह नैरंतर्य सारे भूमंडल पर छा जाता है।

—भगवत शरण उपाध्याय

समता और अहिंसा का अविनाभावी संबंध है। समता के बिना अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। अहिंसा के बिना समता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।
महाव्रत की परंपरा में अहिंसा का पहला स्थान है। अहिंसा के आधार पर ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकास हो सकता है। जैन शास्त्रों में अहिंसा को परम विज्ञान कहा है। जिसके जीवन में अहिंसा और समता की प्रतिष्ठा नहीं होती, वह विद्वान होकर भी अज्ञानी है। जैन आचार्यों ने बाल (अज्ञानी) और पंडित के विवेचन में अहिंसा और संयम की कसौटी को प्रमुखता दी है।

स्वतंत्रता का सूत्रधार : जैन धर्म-दर्शन

❑ मुनि राकेशकुमार

समता, समानता और स्वतंत्रता के आदर्शों पर जैन सिद्धांतों में काफी बल दिया गया है। जाति, वर्ण, लिंग और भाषा के आधार पर किसी को हीन और महान समझना जैन सिद्धांत के अनुसार अज्ञान का परिचायक है। स्वतंत्रता का उद्घोष आज की युग-चेतना का प्रमुख स्वर है। जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पूर्व स्वतंत्रता का संदेश प्रदान किया तथा धार्मिक और सामाजिक शोषण से मानवता को मुक्ति का मार्ग दिखाया।

गुणों की पूजा

विश्व के अनेक धर्म व्यक्ति-केंद्रित हैं। उनके नामकरण तथा पूजा-प्रार्थना में व्यक्ति-पूजा का भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। किंतु जैन धर्म गुणों की पूजा पर बल देता है। 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं'—यह जैन धर्म का महामंत्र है। इसमें किसी व्यक्ति को नहीं, किंतु, आध्यात्मिक व्यक्तित्व को नमन किया गया है। अरिहंत, सिद्ध आदि व्यक्ति नहीं—आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रतीक हैं।

एक चेतनाशील मनुष्य के लिए स्वतंत्रता उसका बुनियादी अधिकार है और उसे पाने के लिए होने वाले संघर्षों से भी हम परिचित हैं। लेकिन, राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक-आर्थिक समानता ही किसी चेतनाशील मनुष्य का उद्देश्य-भर रहना चाहिए, या कि उससे कहीं दूर भी देखा जाना चाहिए? जैन धर्म-दर्शन ने स्वतंत्रता के मूल्य को कहीं आगे तक देखा है। व्यक्ति स्वातंत्र्य के इन्हीं व्यापक सरोकारों पर यह आलेख—

जैन धर्म की परंपरा को प्राचीन ग्रंथों में निर्ग्रंथ धर्म व आर्हत धर्म के नाम से संबोधित किया गया है। 'जैन धर्म'—इस शब्द का प्रयोग महावीर निर्वाण के पश्चात् हुआ है।

जिन और जैन

राग और द्वेष आदि ग्रंथियों के विजेता जिन होते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म जैन धर्म है। जिन और जैन, दोनों, आत्म-विजय के परिचायक शब्द हैं। जैन ग्रंथों में स्थान-स्थान पर स्वयं को जीतने की साधना पर बल दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन धर्म आत्म-विजय का संदेश-वाहक है। अंतर्-ग्रंथियों और विकारों की विजय-यात्रा में जो अग्रसर होता है, वही सच्चा जैन है। जैनत्व को जातिवाद और संप्रदायवाद के घेरे में नहीं बांधा जा सकता।

तीर्थंकरवाद

जैन धर्म अवतारवादी नहीं, तीर्थंकरवादी है। अवतारवाद के अनुसार सृष्टि का निर्माण और संचालन परमात्मा के द्वारा होता है तथा वह परमशक्तिसंपन्न परमात्मा विश्व की आवश्यकता के अनुसार अवतार धारण

करता है। तीर्थंकरवाद के अनुसार सभी प्राणी उत्थान-पतन व सुख-दुःख के लिए स्वयं उत्तरदाई हैं। जो अपने पुरुषार्थ का सही उपयोग कर वीतरागता की स्थिति का साक्षात्कार करते हैं, वे दूसरों की जीवन-नौका को पार लगाने के लिए धर्म के घाट का निर्माण करते हैं, तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं—वे ही तीर्थंकर होते हैं। सभी तीर्थंकर मानव से महामानव बनते हैं। इस युग के चौबीस तीर्थंकरों में ऋषभदेव पहले तीर्थंकर थे, महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हुए।

भक्त और भगवान

आचार्यश्री तुलसी ने अर्हत् वंदना की गीतिका में लिखा है—'बिंदु भी हम सिंधु भी हैं, भक्त भी भगवान भी हैं।' जैन धर्म में भक्त और भगवान का क्या संबंध है? इस प्रश्न का समाधान इस पद्य में प्रस्तुत किया गया है। कुछ लोग भगवान को भक्त से भिन्न, किसी नियामक शक्ति के रूप में मानते हैं। उस विचार को यहां स्वीकार नहीं किया गया है। प्रत्येक मनुष्य में परमात्मा का प्रकाश छुपा हुआ है, अपनी साधना और तपस्या से उसका साक्षात्कार करने की सबके लिए संभावना है। चेतना के विकास की उच्चतम भूमिका परमात्मा की भूमिका है। ज्यों-ज्यों कर्मों और संस्कारों पर छाया कलुषताभरा आवरण दूर होता है, परम-आत्मा का सूरज प्रकट होता जाता है।

सृष्टि-व्यवस्था

सृष्टि अनादि-अनंत है। जैन तत्त्व-चिंतन का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। जैन विचार के अनुसार विश्व में किसी भी वस्तु का न सर्वथा विनाश होता है, न कोई नई वस्तु उत्पन्न होती है। जड़-चेतन पदार्थों के पर्याय-परिवर्तन और रूपांतरण से विश्व व्यवस्था का यह क्रम चलता रहता है। जैन धर्म का यह विचार आधुनिक विज्ञान के बहुत निकट है।

द्वैतवाद

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में द्वैतवाद और अद्वैतवाद का चिंतन एक प्रमुख विषय रहा है। जो एक ही तत्त्व को परम-तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं, वे अद्वैतवादी हैं। जो दो तत्त्वों को मौलिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं—वे द्वैतवादी हैं। जैन धर्म ने जड़ और चेतन, दोनों, का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया है। जड़ कभी चेतन नहीं होता, चेतन कभी जड़ नहीं होता। इसलिए जैन धर्म द्वैतवादी है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन नौ तत्त्वों के आधारभूत तत्त्व जड़ और चेतन हैं।

वैज्ञानिक धर्म

जैन धर्म ने कारण-कार्य की शृंखला के आधार पर तर्कसंगत और अनुभवगम्य तत्त्व-दर्शन प्रस्तुत किया है। जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने अंधविश्वास को कभी महत्त्व नहीं दिया। तीर्थंकर महावीर ने अपने शिष्य इंद्रभूति गौतम से कहा—'मैंने जिस सत्य का दर्शन किया है, उसका साक्षात्कार तुम स्वयं करो। अनुभव के बिना आस्था का कोई महत्त्व नहीं है।' इस विवेचन से जैन धर्म की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि स्वतः स्पष्ट होती है। विश्व के अनेक विचारकों ने इसीलिए जैन धर्म को 'वैज्ञानिक धर्म' विशेषण से संबोधित किया है। जैन धर्म के सृष्टिवाद, अनेकांतवाद व परमाणुवाद आदि अनेक सिद्धांतों का आधुनिक विज्ञान के साथ आश्चर्यजनक सामंजस्य है। एक विद्वान ने लिखा है—'जैन धर्म के अनेकांतवाद का महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन की 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' के रूप में आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में नया अवतार हुआ है।'

पुरुषार्थवाद

धर्म के साथ ईश्वरवाद, भाग्यवाद और दैववाद के विचार बहुत गहरे जुड़े हुए हैं। जैन धर्म के अनुसार हर व्यक्ति अपना भाग्य-विधाता है। अपने आचरण और व्यवहार के स्तर पर वह जैसे बीज बोता है—वैसे ही फल पाता है। परमात्मा का स्मरण अवश्य करना चाहिए। किंतु उसके पीछे याचना का भाव उचित नहीं है। इसलिए भक्तिवाद का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी जैन धर्म में पुरुषार्थवाद पर बल दिया गया है।

समता की प्रतिष्ठा

जैन आचारशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत समतावाद है। जैन तीर्थंकरों ने मानसिक और सामाजिक—दोनों धरातलों पर समता की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। उन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन में सभी प्राणियों की आत्माओं को अस्तित्व की दृष्टि से समान बताया है। उन्होंने सामाजिक जीवन में समता के आचरण का प्रशिक्षण दिया। उनके धर्मसंघ में हर जाति और वर्ण के सदस्य प्रव्रजित हुए, पर उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। उनके मौलिक अधिकार समान थे।

अहिंसा

समता और अहिंसा का अविनाभावी संबंध है। समता के बिना अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। अहिंसा के बिना समता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

महाव्रत की परंपरा में अहिंसा का पहला स्थान है। अहिंसा के आधार पर ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकास हो सकता है। जैन शास्त्रों में अहिंसा को परम विज्ञान कहा है। जिसके जीवन में अहिंसा और समता की प्रतिष्ठा नहीं होती, वह विद्वान होकर भी अज्ञानी है। जैन आचार्यों ने बाल (अज्ञानी) और पंडित के विवेचन में अहिंसा और संयम की कसौटी को प्रमुखता दी है।

अनेकांतवाद

मैं जो कहता हूं वही सत्य है—यह एकांतवाद है। इससे पारस्परिक व्यवहार में अशांति और तनाव का भाव उत्पन्न होता है। 'मैं जो कहता हूं वह भी सत्य है'—यह अनेकांतवाद है। इसके प्रयोग से विरोधी विचारों में भी समन्वय हो सकता है तथा सद्भाव और सहअस्तित्व की भावना का आधार सबल बन सकता है। जैन तीर्थंकरों ने दार्शनिक जगत् में अनेकांतवाद का संदेश देकर वैचारिक संघर्ष का उपशमन किया तथा मतभेद के कारण पैदा हुई भेद की दीवारों को मिटाया। इस तरह आचार और व्यवहार में अनेकांत की दृष्टि देकर समाज में समता और समन्वय का बीजारोपण किया।

युग की मांग

भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् ने दिल्ली में महावीर जयंती के एक कार्यक्रम में कहा था—'जैन धर्म युग की मांग है। स्वतंत्रता, लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता आज के युग के चार महत्त्वपूर्ण आदर्श हैं। नए भारत का निर्माण भी हमें इन चार सिद्धांतों के आधार पर करना है। जैन धर्म ने इन चार आदर्शों पर सबसे अधिक बल दिया है। यदि संसार जैन धर्म के सिद्धांतों के अनुसार आगे बढ़े तो शांति के स्वर्ग का अवतरण हो सकता है।' डॉ. राधाकृष्णन् के ये उद्गार युवा-पीढ़ी के लिए विशेष रूप से मननीय हैं। यदि बुद्धिवादी युवक जैन धर्म के सिद्धांतों का गहन अध्ययन और अनुशीलन करें तो उन्हें जीवन में नया प्रकाश प्राप्त हो सकता है। विश्व की आध्यात्मिक और नैतिक अपेक्षाओं की पूर्ति में वे महान योगदान दे सकते हैं।

भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे भी जैन धर्म के प्रति विशेष आदर भाव रखते थे। महात्माजी ने अपनी विदेश यात्रा के पूर्व जैन मुनियों से नैतिक प्रतिज्ञाएं ग्रहण कीं। उन्होंने अपनी आत्म-कथा में इसका उल्लेख किया है। महात्मा गांधी का जैन योगी श्रीमद् राजचन्द्र के साथ अहिंसा और अध्यात्म के संबंध में गंभीर चिंतन-मंथन हुआ—उनके पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट होता है।

विनोबाजी ने अपने प्रवचनों में समय-समय पर अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांतवाद आदि जैन सिद्धांतों पर प्रकाश डाला था। उन्होंने मृत्यु के समय भोजन-पानी का त्याग कर जैन धर्म का अनशन व्रत (संथारा) स्वीकार किया। उनके द्वारा प्रवर्तित और संचालित सर्वोदय कार्यक्रम के साथ भी जैन धर्म के समता-दर्शन का महान संबंध है। जैन आचार्य समंतभद्र की रचना में शताब्दियों पूर्व 'सवोदयं तीर्थमिदं तवैव' के रूप में सर्वोदय शब्द का प्रयोग हुआ है। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

संप्रदाय सत्य पर हावी न हो सके, गुरु और शिष्य के संबंधों में स्वार्थ एवं सुविधावाद के घुन न लगें, अध्यात्म-साधना के लिए अभिनिष्क्रांत साधकों को सम्यक् अनुशासन, समता एवं न्याय की उपलब्धि हो, अध्यात्म को व्यवहार का उर्वर धरातल मिल सके—इन सब उद्देश्यों को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने एक नवीन संविधान का प्रणयन किया था। समता और न्याय के बीजों के पल्लवन का अपर नाम है—'आध्यात्मिक साम्यवाद'—इसके प्रवर्तन का श्रेय है तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य को।

आध्यात्मिक साम्यवाद के प्रवर्तक श्रीमज्जयाचार्य

❑ साध्वी श्रुतयशा

ईसा की अठारहवीं शताब्दी में हिंदुस्तान की मरुधरा में एक क्रांतिकारी पुरुष का अवतरण हुआ था। तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ अधिशास्ता श्रीमद् जयाचार्य ने इस संघ के आदि आचार्य भिक्षु के द्वारा बोए गए बीजों का संवर्धन कर उनको संपुष्ट बनाया और आध्यात्मिक क्षेत्र में एक नए युग का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने जिस क्रांति का सूत्रपात किया था, आज विश्व उसे तेरापंथ के नाम से जानता है। अपनी प्रज्ञा द्वारा उप्त बीजों को उन्होंने चार दशक तक संरक्षण प्रदान किया और स्थायित्व प्रदान करने का दायित्व दो महापुरुषों—आचार्य भारमल एवं आचार्य रायचंद को सौंपकर प्रस्थान कर दिया। तदनंतर क्रांति की ज्योति को अखंडता प्रदान करने का गुरुतर दायित्व-निर्वहन किया—आचार्य जीतमलजी ने।

संप्रदाय सत्य पर हावी न हो सके, गुरु और शिष्य के संबंधों में स्वार्थ एवं सुविधावाद के घुन न लगें, अध्यात्म-साधना के लिए अभिनिष्क्रांत साधकों को सम्यक् अनुशासन, समता एवं न्याय की उपलब्धि हो, अध्यात्म को व्यवहार का उर्वर धरातल मिल सके—इन सब उद्देश्यों को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने एक नवीन संविधान का प्रणयन किया था। समता और न्याय के बीजों के पल्लवन का अपर नाम है—'आध्यात्मिक साम्यवाद'—इसके प्रवर्तन का श्रेय है तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य को।

जयाचार्य निर्वाण दिवस
(भाद्रपद कृष्णा द्वादशी)
पुण्य स्मरण

आचार्य भिक्षु एक छोटे-से ग्राम कंटालिया में अवतरित हुए। विद्यालयी शिक्षा के नाम पर उनका शिक्षण कितना हुआ, बताना कठिन है, पर किसी औपचारिक शिक्षा की डिग्री उनके पास नहीं रही—यह सच है। तथापि तेरापंथ के संविधान की धाराएं इस बात की स्वयंभू साक्ष्य हैं कि उनकी अंतःप्रज्ञा जाग्रत थी। उसी संविधान को आधार बना कर श्रीमद् जयाचार्य ने भी कुछ धाराओं का प्रवर्तन किया, जिसे आज हम आध्यात्मिक साम्यवाद का घोषणा पत्र कह सकते हैं। यूरोप में ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्स ने साम्यवाद का दर्शन दिया। ऐंजेल्स के सहयोग से उसे विश्व मानस पर प्रतिष्ठित होने का अवसर उपलब्ध हुआ। मार्क्स ने देखा—व्यक्तिगत संपत्ति एवं उसका स्वामित्व वर्ग-संघर्ष की जड़ है, अतः श्रम की प्रतिष्ठा एवं न्याय की स्थापना के लिए उन्होंने साम्यवाद का दर्शन दिया। दूसरी ओर श्रीमद् जयाचार्य ने देखा कि आध्यात्मिक क्षेत्र में साधु के लिए अपने उपकरणों और पुस्तकों का ममत्व, शिष्यों का ममत्व आदि सुव्यवस्था में अवरोध पैदा कर सकते हैं। इसीलिए आध्यात्मिक विकास के लिए अपेक्षित व्यवस्था-परिवर्तन के कुछ नियमों को जोड़कर उन्होंने स्वामी भीखणजी द्वारा प्रणीत क्रांति के बीजों को स्थायित्व प्रदान कर दिया। मार्क्स और जयाचार्य की धरा और धरातल भिन्न हैं, पर उनका काल एवं विचार-सरणि

काफी समान है। उस समानता को हम कुछ बिंदुओं के आधार पर जान सकते हैं—

उद्देश्यगत समानता

साम्यवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है—नैतिकता। 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' के अनुसार सामाजिक कल्याण में ही मानव का परम हित माना गया है। उसका उद्देश्य है—एक आदर्श समाज की स्थापना करना, जहां श्रम का उचित मूल्यांकन हो एवं प्रत्येक व्यक्ति को समुचित न्याय मिले।

श्रीमद् जयाचार्य ने आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र में न्याय एवं सुव्यवस्था के लिए कुछ क्रांतिकारी व्यवस्थाएं प्रदान कीं। उनके अनुसार प्रत्येक साधु संघ का सदस्य है। जब दीक्षा आचार्य के नाम से होती है तो व्यक्तिगत स्वामित्व क्यों? किसी वर्ग में साधुओं की संख्या अधिक, किसी में कम। किसी वर्ग में पुस्तकों की संख्या कम, किसी में अधिक—ऐसा नहीं होना चाहिए। यह बात ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर संघीय स्वामित्व की स्थापना कर एक आदर्श संघ का निर्माण करना उनका उद्देश्य था।

व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन

आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए साम्यवाद ने व्यवस्था दी कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रह सकेगा।

साधु-संघों में व्यक्तिगत स्वामित्व के मुख्य दो आधार हैं—1. शिष्य संपदा, 2. उपकरण संपदा। जयाचार्य ने व्यवस्था दी कि सब साधु-साध्वियां आचार्य के शिष्य होंगे। वर्ग के अग्रणी साधु-साध्वियों का किसी भी साधु-साध्वी पर स्वामित्व नहीं होगा। कोई किसी का शिष्य या शिष्या नहीं बन सकेगा। उन्होंने साधुओं के वर्गों का पुनः समायोजन किया। साध्वियों की व्यवस्था जटिल थी। किसी वर्ग में दस-बारह साध्वियां थीं, किसी में तीन-चार। तत्समय की साध्वीप्रमुखा सरदारांजी ने जयाचार्यजी के निर्देशानुसार उनका पुनर्गठन किया।

इसी प्रकार उपकरणों के बारे में भी नीति-निर्धारण का काम हुआ। उपकरण दो प्रकार के होते हैं—1. साधु जीवन के लिए आवश्यक उपकरण—ओघे-पूंजणी आदि, व 2. पुस्तकें।

श्रीमद् जयाचार्य के शासनकाल तक कुछ वर्गों के पास आंतरिक (निजी) पुस्तकें थीं, कुछ के पास नहीं थीं। परस्पर पुस्तकें लेने-देने की मानसिकता कम थी। जयाचार्यजी ने सब वर्गों को पुस्तकें सुलभ करवाने हेतु उनका संघीकरण किया। पुस्तकों का मुद्रांकन करवाया—'यह ग्रंथ भिक्षु भारीमाल ऋषिराय जीतमल आदि गणपति अने वर्तमान आचार्य की निश्रा में है।' आवश्यकता के अनुसार पुस्तकों का समान वितरण इस मर्यादा के साथ किया गया कि ये पुस्तकें आपको उपयोग के लिए 'प्रातिहारिक रूप' में दी जा रही हैं। चातुर्मास पूरा होने पर साधुओं के साथ इन्हें भी गुरु चरणों में समर्पित करना होगा। अधिकार या ममत्व नहीं रखा जा सकेगा।

अग्रणी साधु-साध्वियों के लिए उन्होंने व्यवस्था दी—1. अग्रणी साधु को प्रतिदिन पचीस गाथाएं लिखकर देनी होगी। 2. अग्रणी साध्वी को प्रतिवर्ष एक रजोहरण और एक प्रमार्जनी तैयार करनी होगी।

इस प्रकार जयाचार्यजी ने दो मुख्य सार्वजनिक स्रोतों का निर्माण किया। जयाचार्यजी ने संघ से पृथक् होने वाले साधु-साध्वियों के उपकरण संघ की निश्रा में लेने के निर्देश दिए।

श्रम का संविभाग

मार्क्सवाद का मुख्य उद्घोष रहा है—जो श्रम नहीं करेगा वह खाएगा भी नहीं। साम्यवाद की एक व्यवस्था है कि हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य है।

श्रीमद् जयाचार्य ने श्रम की सम्यक् प्रतिष्ठा के लिए समुच्चय के कार्यों की सम्यक् व्यवस्था की। आचार्य के कार्य तथा संघीय कार्य समुच्चय के कार्य कहलाते हैं। जयाचार्यजी ने उनके लिए क्रम की व्यवस्था की। समुच्चय के कार्य यथा—आचार्य के प्रवास स्थान का प्रमार्जन, हस्तलिखित पुस्तकों की सार-संभाल, आहार के संविभाग, पत्र का लेखन, आचार्य को उसका निवेदन, आहार आने के बाद यथोचित वितरण, जल का संविभाग, स्थान प्रतिलेखन (इतस्ततः बिखरे हुए वस्त्र-खंडो, वस्तुओं को यथास्थान पहुंचाना), प्रस्रवण आदि के उत्सर्ग के स्थान की व्यवस्था करना, आचार्य के स्थान-पट्ट आदि की व्यवस्था करना— ये सारे कार्य बारी-बारी से संपादित किए जाने लगे।

समुच्चय के कार्यों की अनिवार्यता के साथ-साथ उन्होंने निर्जरा—चित्त की निर्मलता की प्रेरणा—का योग किया। अच्छा कार्य करने वालों के लिए प्रोत्साहन और

पुरस्कार का प्रयोग किया। फलतः सामुदायिक कार्य भी व्यक्तिगत कार्यों के समान सुव्यवस्थित रूप से संपन्न होने लगे।

समानता की प्रतिष्ठा

साम्यवादी व्यवस्था का एक सिद्धांत है—प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का पूरा फल पाने का समान अवसर होना चाहिए। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हथोड़ा चलाने वाले श्रमिक और मशीनों का आविष्कार करने वाले वैज्ञानिक को समान वेतन मिले। दोनों के प्रति समानता और न्याय के व्यवहार का तात्पर्य है—उसे अपने श्रम का पूरा फल मिलेगा और शिक्षा द्वारा उसे अपनी योग्यता को बढ़ाने का भी अवसर मिलेगा। हर व्यक्ति को अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की संपूर्ति का समान अवसर दिया जाए। संचार, यातायात और अन्य आवश्यक सेवाओं व साधनों का राज्य के हाथों में केंद्रीकरण कर दिया गया, ताकि कोई किसी का शोषण न कर सके।

श्रीमद् जयाचार्य ने तेरापंथ में भी अनिवार्य अपेक्षाओं की संपूर्ति के क्षेत्र में समानता के प्रयोग किए। सामान्य हो या सम्मान्य, अल्पश्रुत हो या बहुश्रुत—आहार और श्रम के संविभाग में कोई भेद नहीं किया जाएगा। आहार, जैसा व जितना उपलब्ध हो, सब साधु-साध्वियों में समान वितरण होगा। पानी, वस्त्र, स्थान तथा अन्य सामूहिक उपयोग की वस्तुओं का समान वितरण होगा। श्रम के क्षेत्र में दीक्षा-पर्याय से बारी एवं आहार-पानी आदि के विषय में की गई व्यवस्था समानता का महानिदर्शन है। रुग्ण और वृद्ध साधु-साध्वियों की सेवा प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए अनिवार्य कर दी गई।

उत्तराधिकार का उन्मूलन

आर्थिक समानता के लिए मुख्य अवरोधक है उत्तराधिकार के लिए खींच-तान और जोड़-तोड़। संपत्ति का उत्तराधिकार भी विषमता पैदा करता है। इसीलिए मार्क्सवाद में उसके उन्मूलन पर बहुत बल दिया गया।

साधु-साध्वी चूंकि अपरिग्रही होते हैं। अतः उनके आय-व्यय के अथवा संचय के स्रोत क्या हों—इस विषय में जयाचार्यजी ने एक नवीन प्रणाली का प्रवर्तन किया जिसका नाम रखा गया—'गाथा प्रणाली'। उन्होंने अग्रणी साधु-साध्वियों पर गाथा तथा रजोहरण प्रमार्जनी भेंट करने का कर लगा कर संघीय भंडार की श्रीवृद्धि की। दूसरी ओर सेवा लेने, दूसरे साधु से समुच्चय के कार्य करवाने, समुच्चय का भार उठाने, वस्त्र सिलाई, पात्रों के रंग-वार्निश आदि के लिए गाथाओं को मुद्रा के रूप में विनिमय करने की व्यवस्था देकर गाथा प्रणाली की उपयोगिता में भी अभिवृद्धि की। उन्होंने लेखापाल साधुओं की नियुक्ति की। हर मर्यादा-महोत्सव पर लेखा कर, जमा-नावें का लेखा-पत्र संबद्ध व्यक्ति को दिया जाता है। गाथाएं व्यक्तिगत हैं, पर उनका उत्तराधिकार किसी को नहीं दिया गया।

इस प्रकार अहिंसा और समता को केंद्र में रखकर श्रीमद् जयाचार्य ने अनेक ऐसी व्यवस्थाएं श्रमण संघ के सम्मुख प्रस्तुत कीं, जिनकी भाषा और भूमिका के भेद के साथ, मार्क्सवाद के साथ अच्छी तुलना की जा सकती है। दोनों की दार्शनिक एवं प्रायोगिक पृष्ठभूमि भिन्न है। फिर भी व्यवस्थात्मक पक्ष प्रायः समान प्रतीत होते हैं। अतः जयाचार्य को आध्यात्मिक साम्यवाद के सूत्रधार कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ❖

भगवान-लाभ के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। प्रथम मनुष्य-जन्म, द्वितीय मुक्ति की कामना और तृतीय महापुरुष का आश्रय। भगवान की कृपा से तुमने मनुष्य-जन्म तो पाया, सत्संग भी पाया और मुक्त होने की इच्छा भी हुई। अब जीवन को इस प्रकार गढ़ लो, जिससे यह जन्म वृथा न जाए। क्षणस्थाई भोग के पीछे दौड़कर क्या होगा? अनंत के अधिकारी बनो। और एक बात याद रखना—मनुष्य-जन्म शायद एक बार फिर से मिल जाए, मुक्ति की इच्छा भी शायद फिर से अगले जन्म में हो जाए, पर अब के समान साधु-संग बार-बार नहीं पाओगे। भाग्य में सब समय महापुरुषों का संग मिलना कठिन है। जन्म-जन्मांतरों के अनेक पुण्यों और तपस्या के फल से ऐसा सुयोग प्राप्त होता है। सौभाग्य से जब ठाकुर के आश्रय में आ गए हो, तब सावधान रहो, जिससे जीवन व्यर्थ न चला जाए।

—स्वामी ब्रह्मानंद

जो अपने-आप को सत्य की खोज में पूर्णतः समर्पित करना चाहते हैं, जिनमें आत्म-स्वातंत्र्य की समुपलब्धि की गहरी प्यास है और जो दूसरों को भी स्वतंत्रता का देय देना चाहते हैं—उन्हें अवश्य ही अनगारता में उपस्थित होना होता है। जो अनगारता की अर्हता—क्षमता से संपन्न नहीं हैं, किंतु धर्माचरण के लिए समुत्सुक हैं। उनके लिए अगारधर्म श्रेयस्कर है।

अनगारता : आत्म-स्वातंत्र्य के लिए

❑ साध्वी सिद्धप्रज्ञा

जो लक्ष्य तक पहुंचाए, साध्य-सिद्धि को उपलब्ध कराए—वह साधना है। जहां सभी इच्छाएं, कामनाएं संतृप्त हो जाती हैं, साधना समाप्त हो जाती है—वहां साधना कृतकृत्य हो जाती है। सिद्धि संप्राप्ति के लिए (आत्मशुद्धि के लिए) जरूरी है—साधना। सत्य-अहिंसा की साधना, मैत्री-मुदिता, मध्यस्थता की साधना, ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह, अनेकांत की साधना—यही साधना अपने निष्पत्तिकाल में साध्य बन जाती है। इस साधना-भूमि पर आरोहण करने के लिए आवश्यक है—शरीर को साधना, वचन और मन को साधना। यह साधना घर में भी की जा सकती है और गृह त्याग कर भी। साधना गृहवास या गृहत्याग से अनुबंधित नहीं है। उसका अनुबंध आत्मा से है, वैराग्य और अभ्यास से है। भगवान महावीर का यह अनुभूत स्वर रहा है। साधना गांव में भी हो सकती है, जंगल में भी हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में प्रतिपादित यह तथ्य व्रतों की अनिवार्यता पर प्रकाश डाल रहा है—

कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है। चीवर, जटाधारण, नग्नत्व और सिर-मुंडन—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नहीं कर सकते। दुःशील भिक्षाजीवी भी नरक से नहीं छूटता। भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो स्वर्ग में जा सकता है। व्रतों के आसेवन की शिक्षा से संपन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी देवलोक में चला जाता है (उत्तरा. 5/20-24)।

ब्राह्मण परंपरा में संन्यास की अपेक्षा गृहस्थी को श्रेष्ठ बताया गया है। महाभारत का अभ्युपगम यह है कि जैसे सब जीव माता का सहारा लेकर जीते हैं, वैसे ही सब आश्रम गृहस्थ का सहारा लेकर जीवनयापन करते हैं। मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम को वायु की भांति सब आश्रमों का आधार माना है।

ठाणं सूत्र में भी साधु के पांच निश्रा स्थानों में एक निश्रा स्थान है—गृहपति। आगमों में सिद्धों के पंद्रह भेदों में एक भेद है—गृहलिंग सिद्ध। इस कालखंड में मरुदेवा इसका प्रथम उदाहरण है। इस संदर्भ के आधार पर एक संभावना की जा सकती है कि साधना के लिए घर छोड़ना जरूरी नहीं है। गृहस्थ को भी धर्म करने का अधिकार है। भगवान महावीर ने दो प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया था। अगार धर्म और अनगार धर्म। किंतु उन्होंने यह भी कहा था—गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा।'

साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है। यहां ज्ञातव्य तथ्य यह है कि अगारधर्मी की गति केवल देवलोक है, जबकि अनगार देवलोक या मोक्ष, दोनों, में से कहीं भी जा सकता है। ब्राह्मण के रूप में उपस्थित देवेन्द्र ने नमि से कहा था—राजर्षिवर! तुम घोराश्रम को छोड़कर संन्यास की इच्छा करते हो, यह उचित नहीं है। नमि राजर्षि बोले—'देवेन्द्र! धर्मार्थी के लिए घोर अनुष्ठेय नहीं है। उसके लिए एकमात्र अनुष्ठेय है स्वाख्यात धर्म (चारित्रधर्म)। घोर होने मात्र से कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं होती। कोई बाल (गृहस्थ) मास-मास की तपस्या के अनंतर कुश की नोक पर टिके इतना-सा आहार करे तो भी वह चारित्र-धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य

प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।'

जो अपने-आप को सत्य की खोज में पूर्णतः समर्पित करना चाहते हैं, जिनमें आत्म-स्वातंत्र्य की समुपलब्धि की गहरी प्यास है और जो दूसरों को भी स्वतंत्रता का देय देना चाहते हैं—उन्हें अवश्य ही अनगारता में उपस्थित होना होता है। जो अनगारता की अर्हता—क्षमता से संपन्न नहीं हैं, किंतु धर्माचरण के लिए समुत्सुक हैं। उनके लिए अगारधर्म श्रेयस्कर है। गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी ने लिखा है—

जो हो संभव अनगार धर्म का पालन,
तो करें उसी पथ में अपना संचालन।
क्षमता यदि अल्प, अनल्प, धर्म में आस्था,
साभार अगार धर्म का पकड़े रास्ता।

अगार शब्द घर का वाचक है। अग का अर्थ है वृक्ष। प्राचीन काल में वृक्ष के काठ (लकड़ी) से घर बनाए जाते थे, इसलिए उन्हें अगार कहा गया।

गृहस्थ जीवन की प्रथम अपेक्षा है—घर। घर वह है जहां जमीन पर घुटनों के बल सरकते-चलते, अठखेलियां करते शिशु दिखते हैं, किलकारियां करते किशोर, हंसते-खिलते-मुस्कराते चेहरे, खुशमिजाज दिल-दिमाग, वात्सल्य रस-झरती आंखें, आदरसूचक मधुर शब्दों का प्रयोग, आत्मीय व्यवहार, सुरुचिपूर्ण सुव्यवस्थित वस्तुएं, सुरक्षा, सहयोग और स्नेह की सौरभ से सज्जित वातावरण, सौंदर्य से सजल बने मोहक घर को छोड़ने का सपना देखना भी कठिन है। गृहत्याग का संकल्प जागेगा भी कैसे? क्यों देखें सपना? क्यों जगाए संकल्प? क्या जरूरत है घर छोड़ने की? मूल बात इतनी-सी है कि हम भले ही घर में रहें, पर घर हमारे में न रहे। ऐसा हो पाना संभव नहीं लगता। कितनी-सारी समस्याओं से संक्रांत-आक्रांत है—घर का जीवन। उपाध्याय विनयविजयजी ने शांत-सुधारस काव्य में इसका सुंदर चित्रण किया है—

प्रथममशनपान प्राप्तिवाञ्छाविहस्ता,
स्तदनुवसन वेश्मालंकृति व्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्याऽवाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलषन्तः! स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन्?।।

पहली समस्या—अन्न-जलप्राप्ति के लिए व्याकुलता। दूसरी समस्या—वस्त्र, निलय और अलंकार की प्राप्ति हेतु व्यग्रचित्तता। तीसरी समस्या—विवाह, संतान, इष्टविषय की प्राप्ति की सतत अभिलाषा।

प्रज्ञापुरुष जयाचार्य ने चौबीसी में अर्हत् अभिनंदन की स्तुति में लिखा है—

तीर्थंकर हो चौथा जगभाण,
झांड गृहवास करी मति निरमली
विषय विटंबण हो तजिया विषफल जाण...।

जैसे—शरद-पूर्णिमा की रात्रि में निरभ्र आकाश में चंद्रमा अत्यंत निर्मल-प्रसन्न दिखाई देता है, वैसे ही मुमुक्षा जागने पर, गृहवास का बादल छंट जाने पर चिदाकाश में बुद्धि की निर्मलता, प्रसन्नता, स्वच्छता चमक उठती है। बुद्धि की पारदर्शिता में इंद्रिय विषय विषफल सदृश दिखने लगते हैं। कौन मुमुक्षु उन फलों से अपना जीवन चलाने की नासमझी कर सकता है! सामान्य मुमुक्षु की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े राजा-महाराजा, चक्रवर्ती और तीर्थंकर भी घर छोड़कर प्रव्रजित हो गए। आत्मविहार के लिए पादविहारी बन गए। जिसकी अनासक्ति की चेतना जाग गई—वह घर में रह नहीं सकता। बंधन-मुक्ति की प्यास उसे घर छोड़ने को विवश कर देती है। कितनी ही धमकियां दी जाए, कितने ही कष्ट दिए जाएं, कितने ही प्रलोभन दिए जाएं—अनुकूल-प्रतिकूल सब प्रकार की विषम स्थितियों को साहस से पार कर वह एक दिन घर छोड़ ही देता है। तेरापंथ का इतिहास इसका साक्षी है। आचार्य भिक्षु की बुआ ने धमकी दी थी—तुम दीक्षा लोगे तो मैं पेट में कटार खाकर मर जाऊंगी।

महासती सरदारांजी को घर में रहते हुए भी अन्य घरों से मांगकर खाना पड़ा, निर्जल तप करना पड़ा।

चुल्लपिता सुपार्श्व और ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन ने बहुत ही मधुर, करुण, कातर स्वरों में महावीर की मीठी मनुहारें की। राज्य को सुव्यवस्थित करने का दायित्व और अधिकार सौंपना चाहा पर महावीर का चेतनादीप पदार्थ-परवशता और परतंत्रता के आवरण से मुक्त हो चुका था। उन्हें अभीष्ट था—स्वतंत्रता का वरण और धर्मचक्र का प्रवर्तन। कोई भी व्यक्ति घर की सीमा में बैठकर धर्मचक्र का प्रवर्तन नहीं कर सकता। गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी ने लिखा है—

इस युग के अंतिम तीर्थंकर,
वर्धमान श्री जिन देवार्य।
किया प्रवर्तन धर्मचक्र का
जिसका होना था अनिवार्य।।

श्रमण महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना करते हुए कहा—व्यक्ति अपनी शक्ति, पराक्रम और श्रद्धा को जानकर आत्मा का नियोजन करे। जिसे ऐसा अनुभव हो कि मुझमें साधना की पूर्ण क्षमता है, तो वह अनगार बन जाए। अनगार-धर्म के पालन में कठिनाई हो तो वह अगार-धर्म—श्रावकत्व स्वीकार करे। श्रावक की नित्यप्रति भावना यही रहे कि मैं कब अनगार बनूंगा।

ठाणं सूत्र (3/497) में श्रावक के तीन मनोरथ प्रतिपादित हैं, उनमें पहला मनोरथ है—कब मैं अल्प या बहुमूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा। दूसरा मनोरथ है—कब मैं मुंडित होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होऊंगा। एक गृहस्थ श्रावक के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपना लक्ष्य निर्धारित कर संकल्पशक्ति को संपुष्ट बनाए। उसे नित्य इस भाषा में अनुप्रेक्षा करनी चाहिए।

कब आयेगा वह धन्य दिवस, घर त्याग मुनिव्रत लूंगा मैं। (श्रावक संबोध 1/56)

हमारे अर्हतों ने साधिक आठ वर्ष के बालक को भी अनगार बनने का अधिकार दिया है। न केवल अनगार, अपितु वह उत्कृष्ट आराधना से केवली भी बन सकता है। जो घर छोड़ देता है, वह अनगार बन जाता है, उसकी अधिकार की मनोवृत्ति समाप्त हो जाती है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने कामवृत्ति (सेक्स) को मौलिक वृत्ति माना था, किंतु वर्तमान में यह अवधारणा बदल गई है। आज के मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार मूल वृत्ति 'सेक्स' नहीं है। मूल वृत्ति है—अधिकार की भावना। वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया—एक ऐसा कृत्रिम तालाब बनाया गया जिसमें जितने जलचर प्राणी थे, उन सबकी कामवृत्ति समाप्त हो गई। सेक्स का संबंध तापमान से है। जबकि तापमान नीचे गिर जाने पर भी अधिकार की भावना बनी रहती है। अपने घर, निवास-स्थान को छोड़ना कोई पसंद नहीं करता (महावीर का पुनर्जन्म पृ. 202)।

भगवान महावीर परा-मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने समस्या के मूल को पकड़ा और संभवतः इसलिए घर छोड़ने से पूर्व परिग्रह-परित्याग का संकल्प जगाने का निर्देश दिया। राग, लोभ, अधिकार की भावना—ये सब परिग्रह के पर्याय हैं। शेष सारे निषेधात्मक भाव इसी परिग्रह पादप की कंटीली छाया में पलते हैं।

जब तक व्यक्ति इंद्रियों के अधीन रहता है, मन का अनुचर बन जाता है, तब तक उसका घर के प्रति आकर्षण बना रहता है, वह कषाय से अनुरंजित रहता है। ज्यों ही वह इंद्रिय और मन का निग्रह कर लेता है, उनका मालिक बन जाता है, तब उसके आकर्षण की दिशा बदल जाती है। तब उसे घर अच्छा नहीं लगता। भृगुपुत्र अपने माता-पिता से कह उठते हैं—

असासयं दट्ठु इमं विहारं,
बहुअंतरायं न य दीहमाउं।
तम्हा गिहंसि न रहं लहामो,
आमंतयामो चरिस्सामु मोणं।।

'पितृवर! हमने देखा है कि यह मनुष्य जीवन अनित्य है। उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनंद नहीं है। हम मुनिचर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।' मोक्ष की अभिलाषा और धर्म की श्रद्धा से प्रेरित होकर भृगुपुत्रों ने ऐसा कहा था। उत्तराध्ययन सूत्र (29/2-4) इसका साक्षी है।

मोक्ष की अभिलाषा से व्यक्ति को अनुत्तर धर्म-श्रद्धा प्राप्त होती है। अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से संवेग (मुमुक्षा) में तीव्रता आती है। भव और वैषयिक सुखों से विरक्ति हो जाती है। वह राग से विराग के पथ पर प्रस्थान कर लेता है। अगार-धर्म को छोड़ वह अनगार बन जाता है। संयोग-वियोग-जन्य दुःखों का विच्छेद कर वह निर्बाध सुख को प्राप्त करता है।

बहुश्रुत आचार्य शय्यंभव ने साधना के स्तरों का प्रायः इसी क्रम में निरूपण किया है—

तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है।
तब वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को जान लेता है।
तब वह दिव्य और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है।
तब वह बाहरी और भीतरी संयोगों को त्याग देता है।
तब वह मुंड होकर अनगार वृत्ति को अंगीकार कर लेता है।
तब वह उत्कृष्ट संवर वाले अनुत्तर-धर्म का स्पर्श करता है।
तब वह पूर्वसंचित कर्म-रज को प्रकंपित कर देता है।
तब वह केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त कर लेता है।
तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है।
तब वह योगनिरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है।
तब वह कर्ममुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त करता है।
तब वह लोक के अग्रभाग में शाश्वत सिद्ध होता है।
(दसवेआलियं) 4/13-21)

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति अनगार की कक्षा में प्रविष्ट हुए बिना, घर छोड़े

बिना, परिग्रह और अधिकार की वृत्ति का परिहार किए बिना—अगली कक्षा में प्रवेश नहीं पा सकता।

यदि वह अनुत्तर-धर्म का स्पर्श करना चाहता है—आत्मविहार और आत्मरमण करना चाहता है, वीतराग, केवली और सिद्ध बनना चाहता है, तो उसे अगारवृत्ति का त्याग करना ही होगा।

वासुदेव कृष्ण ने मुमुक्षु ठावच्चापुत्र से कहा था—आयुष्मन्! तुम घर क्यों छोड़ते हो, मैं तुम्हें प्रचुरमात्रा में धन-वैभव दे दूंगा और राज्य भी दे दूंगा। तुम घर में रहो।

थावच्चापुत्र ने कहा—वासुदेववर्य! यदि आप मुझे अमरता और अनामयता—ये दो चीजें दें, तो मैं घर में रह सकता हूं। कृष्ण ने कहा—ये चीजें तो मैं नहीं दे सकता। मुमुक्षु बोला—तब तो मैं घर में भी नहीं रह सकता। रोग, जरा और मृत्यु से पीड़ित घर-परिवार, संसार मुझे इष्ट नहीं है। यदि आप अपने संपूर्ण राज्य का त्याग करें तो मुझे अर्धचक्रीश्वर (भरत के तीन खंडों) का अधिपति ही बना सकते हैं, इससे अधिक नहीं। किंतु, मेरे नाथ, मेरे स्वामी अरिष्टनेमि मुझे ऐसा राज्य देंगे कि मैं तीन लोक का अधिपति बन जाऊंगा।

अकिञ्चनोहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्।
योगीगम्य मिदं तथ्यं, रहस्यं परमात्मनः।।

प्रश्न हो सकता है कि भावधारा निर्मल हो गई तो घर छोड़ने की क्या जरूरत है और वह निर्मल नहीं हुई है तो घर छोड़ने से क्या होगा? घर छोड़ने और मुनि-वेश को धारण करने का बहुत बड़ा मूल्य है। आवश्यक निर्युक्तिकार कहते हैं—

वही साधु वंदनीय है जो द्रव्यलिंग और भावलिंग, दोनों, से युक्त है। वही रुपया चलता है, जो शुद्ध होता है और सम अक्षरों में मुद्रांकन के समान है। भरत चक्रवर्ती ने आदर्शगृह में कैवल्य प्राप्त किया था। किंतु किसी कादाचित्क घटना का आलंबन लेकर जो व्यक्ति अनुष्ठान को, मुनिवेश को व्यर्थ मानता है, वह अर्हत् द्वारा प्रतिपादित सचाई को नहीं जानता। केवल निश्चय-नय को मान्य कर व्यवहार-नय की उपेक्षा करने वाला तीर्थ का उच्छेद करता है।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् इन्द्र ने भरत से कहा—आप मुनिवेश को धारण करें, जिससे हम आपका निष्क्रमण महोत्सव मना सकें। भरत ने पंचमुष्टि केशलोच किया। देवेंद्र ने रजोहरण और प्रतिग्रह आदि उपकरण उपहृत किए। अब भरत राजमहलों में कैसे रह सकते थे? वे अनगार हो गये (श्री भिक्षु आगम विषय कोश 1, पृ. 555)।

घर छोड़ने का एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि गृहत्यागी का इहलोक के साथ परलोक भी अच्छा हो जाता है। मुनि की दो ही गतियां हैं—देव या सिद्ध। निश्चय-नय में जो अनगार है, वह शुभ देवगति में जाता है, किंतु जो कांदर्पी, अप्रशस्त भावनाओं आदि से भावित हो जाता है वह अधम जाति का देव बनता है। जो द्रव्य अनगार भी नहीं, वह नरक, तिर्यंच आदि किसी भी गति में जा सकता है, यह बृहल्कल्पभाष्यकार संघदासगणी ने प्रतिपादित किया है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

वृद्धावस्था में व्यक्ति सोचे कि मैं निवृत्ति का जीवन जी रहा हूं, मुझे आत्मविकास का सुंदर अवसर मिला है। व्यक्ति का सच्चा साथी या शांति देने वाला तत्त्व है—अध्यात्म। इस उम्र में अध्यात्म जीवन जीने से असीम शांति का अनुभव किया जा सकता है। ध्यान एवं योग को जीवन का अनिवार्य क्रम बनाने से शांत, आनंदमय जीवन जीया जा सकता है और व्यक्ति स्वस्थता का अनुभव भी कर सकता है। इस तरह के कामों में अधिक शारीरिक परिश्रम भी नहीं होता। व्यक्ति अपना आत्म-समीक्षण करे, उससे स्वदोष-दर्शन की वृत्ति जाग्रत होगी और अपनी गलती का एहसास होगा। इसी से अध्यात्म के प्रति झुकाव बढ़ेगा।

जीवन का उत्तरार्द्ध : आत्मविकास का अवसर

❑ मुनि कुमुदकुमार

जिस प्रकार से हर एक वस्तु की तीन अवस्थाएं होती हैं—उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय; उसी प्रकार व्यक्ति की भी तीन अवस्थाएं हैं—बाल्यावस्था, यौवन और वृद्धावस्था। बाल्यावस्था व्यक्ति के जीवनोपयोगी सामग्री के संग्रह करने वाली अवस्था होती है। जिसमें वह शिक्षा, स्वास्थ्य, जीविका आदि का प्रशिक्षण व योग्यता प्राप्त करता है। यौवन में इन उपलब्धियों की चरम सीमा होती है। वृद्धावस्था में शारीरिक-क्षमता, जीविका-अर्जन के प्रति उपेक्षा तथा जीवन-भर के अनुभवों का विकास होता है, जिसमें से वह स्वयं लाभान्वित होता है तथा परिवार, समाज, राष्ट्र और समग्र मानवजाति के लिए सक्रिय हो सकता है। वृद्धावस्था को हम भार नहीं मानें, उसका आभार मानें, उसके अनुभवों का तथा शिक्षा का उपयोग करें।

बदलते वातावरण और परिस्थितियों के कारण वर्तमान समय में संयुक्त परिवार की प्रणाली अंतिम सांसें गिन रही है। माता-पिता अलग मकान में रहते हैं, पुत्र अलग मकान में। पुत्र अपने वृद्ध माता-पिता के साथ रहना नहीं चाहता। स्थिति यह बन गई कि अनाथाश्रम की तरह वृद्धाश्रम खुलते जा रहे हैं। जहां पर भोजन, आवास की व्यवस्था तो उपलब्ध हो सकती है, लेकिन मानसिक तोष, बच्चों की किलकारियां और पारिवारिक सम्मान की जो अपेक्षा होती है, वह वहां नहीं मिल पाती।

व्यक्ति हर समस्या का सामना करता हुआ अपने पुत्र को पढ़ाता है। उसे ऊंचे पद पर पहुंचाता है। सोचता है—बुढ़ापा आने पर आराम करेगा। परंतु, पुत्र के उपेक्षा भाव के कारण जब उसके अरमान मिट्टी की दीवार की भांति ढह जाते हैं तब वृद्धावस्था का जीवन उसके लिए नरक-सा बन जाता है। अगर बुढ़ापे को जीने की कला आ जाए, तो वह भी सुखद बन सकता है।

बुढ़ापे को जीने के कुछ सूत्र हैं, जिनके द्वारा उसे समाधिमय जीया जा सकता है।

सृजनात्मक कार्य

जीवन की ढलती संध्या में व्यक्ति खालीपन का जीवन जीता है। वह अपने-आप को एकांगी एवं उपेक्षित महसूस करता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है। इस अवस्था में यदि वह कोई सृजनात्मक कार्य करे तो समय सम्यक्-रूप से व्यतीत हो सकता है, वह अपने अनुभवों के द्वारा समाज-सेवा कर समाज को भी लाभान्वित कर सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—जीवन के छह दशक पूर्ण होते ही व्यक्ति को व्यापार के कार्यों से निवृत्त होकर पूर्णरूपेण आध्यात्मिक एवं सामाजिक कार्यों में लग जाना चाहिए। समाजसेवी संस्थाओं में अपनी सेवा के माध्यम से अनेक व्यक्तियों के जीवन में आप प्रकाश ला सकते हैं। प्रौढ़

शिक्षा, महिला शिक्षा के क्षेत्र में आपका अनुभव, आपका सहयोग समाज एवं राष्ट्र को नई गति प्रदान करेगा। रचनात्मक कार्य आपके समय, शक्ति और श्रम के सदुपयोग का साधन बनेंगे।

आत्मसाधना

वृद्धावस्था में व्यक्ति सोचे कि मैं निवृत्ति का जीवन जी रहा हूं, मुझे आत्मविकास का सुंदर अवसर मिला है। व्यक्ति का सच्चा साथी या शांति देने वाला तत्त्व है—अध्यात्म। इस उम्र में अध्यात्म जीवन जीने से असीम शांति का अनुभव किया जा सकता है। ध्यान एवं योग को जीवन का अनिवार्य क्रम बनाने से शांत, आनंदमय जीवन जीया जा सकता है और व्यक्ति स्वस्थता का अनुभव भी कर सकता है। इस तरह के कामों में अधिक शारीरिक परिश्रम भी नहीं होता। व्यक्ति अपना आत्मसमीक्षण करे, उससे स्वदोष-दर्शन की वृत्ति जाग्रत होगी और अपनी गलती का एहसास होगा। इसी से अध्यात्म के प्रति झुकाव बढ़ेगा।

आत्मसमीक्षा से चिंतन सकारात्मक होता है, जिससे कई समस्याओं का समाधान हो सकता है। खाद्य-संयम, वाणी एवं भावनाओं के संयम की साधना भी विकसित होगी। क्रोध एवं आवेश नहीं करना चाहिए। इससे दूसरों का नुकसान कम, बल्कि बुढ़ापे में अपना अधिक होता है। जीवन के सही दिशा-निर्देशन और संबल के लिए स्वाध्याय बहुत बड़ा आलंबन है। उससे समय का सदुपयोग होता है तथा अकेलापन महसूस नहीं होता है। यह चिंतन करना चाहिए कि मैं परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए कितना उपयोगी हो सकता हूं। प्रतिदिन रात को सोने से पहले अपना आत्मावलोकन किया जाए कि—मैंने आज कौनसा कार्य किया जो मुझे नहीं करना चाहिए था। कौन-सा कार्य मैं कर सकता था, परंतु मैंने किया नहीं।

सहनशीलता

हर व्यक्ति के सोचने का अपना दृष्टिकोण होता है। आमतौर पर वृद्धजन कुछ पुराने खयालों के होते हैं, जबकि युवाजन कुछ आधुनिक विचारों के। परिवार में कोई प्रसंग उपस्थित होता है, उस समय वृद्धजन बीच में हस्तक्षेप करते हैं एवं चाहते हैं कि कार्य उनके अनुसार होना चाहिए। वृद्धजन उसी तरह के सुझाव देते हैं। इसके विपरीत युवापीढ़ी सोचती है कि ये किस युग की बात कर रहे हैं। आज दुनिया कितनी आगे निकल गई है। वे वृद्धजनों के सुझावों को नकार कर अपने ढंग से कार्य करते हैं। इनसे कैसे छुटकारा हो? ऐसे अवसरों पर सहनशील होना लाभकर रहता है। समय के अनुसार अपने विचारों में परिवर्तन करने और मांगने पर ही परामर्श देने तथा अधिकार जताने की भावना न हो, आग्रह नहीं रहे तो समस्या स्वतः टल सकती है। बात का बार-बार पुनरावर्तन न किया जाए तथा परिवार जन यदि न मानें, तो क्षोभ न करें। परामर्श की क्रियान्विति पर जोर नहीं दें।

आज के शिक्षाप्राप्त नवयुवक नए-नए संदर्भ तथा वैज्ञानिक वातावरण में स्वयं को अधिक प्रशिक्षित मानते हैं। जबकि वृद्ध व्यक्ति में सहज मनोवृत्ति होती है कि परिवार के सदस्य उसकी बात मानें, उन्हें मान-सम्मान दें। जिंदगी की तेज रफ्तार एवं बदलते समय के कारण इन बातों में कमी आ रही है, ऐसे में मौन एवं सहनशीलता का गुण वृद्धजनों की जिंदगी में रोशनी का काम कर सकता है।

श्रम

श्रम जीवन की गतिशीलता का एक अंग है। जो व्यक्ति अपने को मन से बूढ़ा न मानकर अपने छोटे-मोटे कार्य स्वयं करने की आदत डाल लेते हैं और घर के कार्य में सहयोग देते हैं, वे किसी को भार महसूस नहीं होते। प्रातः भ्रमण, व्यायाम, प्राणायाम करने वालों के शरीर को नई ऊर्जा प्राप्त होती है। इससे शरीर सक्रिय बनता है तथा स्वस्थ रहता है। वृद्धजन यदि बच्चों के साथ कुछ समय बिताएं, उनके साथ हास-परिहास करें तो उनके मन में नव-स्फूर्ति आ सकती है।

वृद्धजन इस तरह अपने चिंतन के दायरे को विशाल बनाकर दिलो-दिमाग के दरवाजे खुले रख कर जीवन के उत्तरार्द्ध के कैनवास में नवरंग भरकर अपने जीवन को सुखद बना सकते हैं। साथ ही साथ, वे औरों के लिए प्रेरणा-दीप भी बन सकते हैं तथा अनेक व्यक्तियों के जीवन में रोशनी ला सकते हैं। ❖

इस गतिमान संसार में जो-कुछ भी है, वह सब परब्रह्म से अथवा स्वामीभाव से परिवेष्टित है। इसलिए अपने स्वामीभाव का परित्याग कर प्राप्त साधनों का उपभोग करो और जो स्वत्व दूसरे का है, उसके प्रति मत ललचाओ।

—ईशावास्योपनिषद् (1)

इस प्रकार उस पक्षी की पूंछ का पर और तीनों सवालों के जवाब लेकर अगले दिन वह वापस घर की ओर लौट पड़ा। रास्ते में उसने सबको एक-एक की बातों के जवाब बता दिए। बालों के मिलते ही लड़की अच्छी हो गई। उसके मां-बाप ने किसान के बेटे को बहुत-सी चीजें भेंट में दीं। चाबी मिल जाने पर तिजोरी वाले ने भी उसको सुंदर-सुंदर उपहार दिए। लेकिन, जब वह राजा के पास पहुंचा, तो वह उसकी वीरता और दौलत को देखकर जल उठा। उसने पूछा—'तुम यह सब कहां से लाए हो?'

बालकथा

राजा की बेटी से शादी

❑ विष्णु प्रभाकर

एक था राजा। कहां राज करता था और उसका नाम क्या था, यह किसी को नहीं मालूम। उसके बस एक लड़की थी। वह हमेशा बीमार रहती थी। उसे तरह-तरह की दवाइयां दी गईं, पर वह अच्छी नहीं हुई।

आखिर एक आदमी ने बताया कि अगर राजा की बेटी एक खास तरह के सेब खाए तो अच्छी हो जाएगी। ये सेब कहां मिलेंगे, यह उसने नहीं बताया। राजा ने अपने राज्य में यह डोंडी पिटवा दी कि जो कोई ऐसे सेब लाएगा, जिनके खाने से राजकुमारी अच्छी हो जाएगी, मैं अपनी बेटी की शादी उसके साथ कर दूंगा।

एक किसान ने यह ऐलान सुना। उसके तीन बेटे थे। उसने अपने सबसे बड़े बेटे को बुलाकर कहा, 'अपने बगीचे के सबसे बढ़िया सेब लेकर राजा के पास जाओ। उनके खाने से उसकी बेटी शायद अच्छी हो जाए।'

बड़े बेटे ने ऐसा ही किया। जब वह राजमहल की ओर जा रहा था तो रास्ते में उसे एक बूढ़ा आदमी मिला। उसने पूछा—'इस डलिया में क्या ले जा रहे हो?'

बड़े बेटे ने जवाब दिया—'मेढक।'

बूढ़ा आदमी बोला—'ऐसा ही होगा।' वह चला गया।

इधर बड़े बेटे ने राजा के पास जाकर डलिया खोली, तो उसमें सचमुच सेब की जगह मेढक निकले। कोई इधर फुदकता, कोई उधर। इस मजाक पर राजा को बड़ा गुस्सा आया। उसने किसान के बेटे को धक्के देकर महल से निकलवा दिया। दूसरे दिन किसान का मंझला बेटा सेब लेकर चला। उसे भी वही बूढ़ा आदमी मिला। उसने पूछा—'इस डलिया में क्या ले जा रहे हो?'

मंझले बेटे ने कहा—'केकड़े।'

बूढ़ा आदमी बोला—'ऐसा ही होगा!' वह चला गया।

बस, मंझले बेटे के साथ भी वही हुआ, जो बड़े के साथ हुआ था। टोकरी में सेबों की जगह केकड़े निकले। यह देखकर राजा के तन-मन में आग लग गई। उसने किसान के बेटे को कोड़ों से पिटवाया और महल से निकलवा दिया।

अब किसान के तीसरे बेटे की बारी आई। पहले तो किसान ने उसे जाने की आज्ञा ही नहीं दी। क्योंकि

वह अभी छोटा था, पर जब उसने बहुत हठ किया, तो वह मान गया। बेटा फूला न समाया। रात-भर वह अच्छे-अच्छे सपने देखता रहा। सवेरे उठा तो उछलता-कूदता बगीचे में पहुंचा। अच्छे-अच्छे सेब चुने और उन्हें लेकर राजा के महल की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसे भी वही बूढ़ा आदमी मिला। उसने वही सवाल पूछा। बेटे ने जवाब दिया—'मैं राजकुमारी को अच्छा करने वाले सेब ले जा रहा हूं।'

बूढ़े आदमी ने कहा—'ऐसा ही होगा।' वही हुआ।

राजकुमारी ने जैसे ही सेब का एक टुकड़ा खाया कि वह बिलकुल चंगी हो गई। फिर तो राजा की खुशी का ठिकाना न रहा। पर, इसी खुशी में वह अपने वचन को भूल गया। उसने किसान के उस बेटे से कहा—'मैं अपनी बेटी की शादी तभी करूंगा, जब तुम एक ऐसी नाव बना लाओगे, जो सूखी जमीन पर वैसे ही तैरेगी, जैसे पानी पर।'

बेटे ने लौटकर ये सब बातें अपने पिता से कही। पिता ने पहले अपने दोनों बड़े बेटों को नाव बनाने का काम सौंपा, पर उनके साथ वही हुआ, जो सेब ले जाने के मामले में हुआ था। वे नाव न बना सके। तब तीसरे बेटे की बारी आई। वह नाव बनाने जंगल में पहुंचा। जब वह नाव बना रहा था तो वही बूढ़ा आदमी उसके पास आया। उसने पूछा—'क्या कर रहे हो?'

उसने जवाब दिया—'मैं एक ऐसी नाव बना रहा हूं, जो जल और थल दोनों पर एक समान चल सके। अगर मैं ऐसा कर सका तो राजा की बेटी से शादी कर सकूंगा, शायद राजा भी बन जाऊं।'

'ऐसा ही होगा।'—बूढ़े आदमी ने कहा।

और ऐसा ही हुआ। लेकिन, राजा अब भी अपना वचन पूरा करने को तैयार नहीं हुआ। उसने उससे कहा—'तुम्हें आज दिन-भर सौ खरगोशों की रखवाली करनी होगी। अगर एक भी खरगोश कम हो गया, तो मैं अपनी बेटी की शादी तुम्हारे साथ नहीं करूंगा।' बूढ़े आदमी की मदद से वह इस परीक्षा में भी पास हो गया।

इस पर राजा की नीयत और भी खराब हो गई। अब उसने उसको बुद्धिमान पक्षी की पूंछ का एक पर लाने को कहा। उस पक्षी की चोंच और पूंछ बाज-जैसी थी, पर बाकी शरीर शेर-जैसा था। वह बहुत दूर रहता था।

उससे मिलने के लिए किसान का वह बेटा फिर सफर पर चल पड़ा। चलते-चलते वह एक किले में पहुंचा। किले के मालिक को जब पता लगा कि किसान का बेटा बुद्धिमान पक्षी के पास जा रहा है, तो उसने कहा—'मैंने सुना है, वह पक्षी सब-कुछ जानता है और सब-कुछ बता सकता है। मेरी तिजोरी की चाबी खो गई है। तुम उससे पूछना कि वह कहां है?'

रात वहीं बिता कर अगले दिन सबेरे ही वह अपने रास्ते पर चल पड़ा। एक दूसरे किले में एक लड़की बीमार थी। उसके मां-बाप ने उससे कहा—'तुम पक्षी से इसको अच्छा करने वाली दवाई के बारे में पूछना।'

यह भी पूछने का उसने वादा किया। आगे चलते-चलते एक ऐसी नदी के किनारे पहुंचा, जहां पर एक मल्लाह डांड़ लगाकर लोगों को पार ले जाया करता था। मल्लाह ने उससे पूछा—'तुम कहां जा रहे हो?'

उसने जवाब दिया—'बुद्धिमान पक्षी के पास।'

मल्लाह ने कहा—'अगर तुम उसे ढूंढ़ लो, तो उससे यह पूछना कि मुझे डांड़ क्यों लगाने पड़ते हैं? मुझे इससे कब छुटकारा मिलेगा?'

पहले की तरह यह सवाल पूछने का भी वादा करके वह आगे बढ़ गया। चलते-चलते आखिर वह उस किले में पहुंच गया, जहां बुद्धिमान पक्षी रहता था। उस समय बाज-जैसी गरदन और शेर-जैसे शरीर वाला वह अजीबोगरीब पक्षी घर पर नहीं था। हां, उसकी पत्नी थी। उसने किसान के बेटे से पूछा—'यहां क्यों आए हो? क्या चाहते हो?'

उसने सब बातें बता दीं। पत्नी ने कहा—'देखो भाई, मेरे पति से सीधे कोई बात पूछना तो नामुमकिन है। लेकिन, अगर तुम कोशिश करना चाहो तो उसकी चारपाई के नीचे छिप कर बैठ जाओ। जब खूब गहरी

नींद में होगा तो उसकी पूंछ से एक पर खींच लेना। बाकी सभी बातें फिर मैं खुद पूछ लूंगी।'

उसने ऐसा ही किया। रात को जब वह पक्षी घर लौटा तो बोला—'इस कमरे में मुझे आदमी की गंध आती है।'

उसकी पत्नी बोली—'कुछ देर पहले एक आदमी यहां आया था, पर अब चला गया है।' यह सुनकर पक्षी सो गया। थोड़ी देर में वह जोर-जोर से खर्राटे भरने लगा। तभी साहस करके किसान के बेटे ने उसकी पूंछ से एक पर खींच लिया।

पक्षी एकदम जाग पड़ा और अपनी पत्नी से बोला—'मुझे अब भी आदमी की गंध आ रही है। अभी किसी ने मेरी पूंछ खींची है।'

पत्नी ने जवाब दिया—'तुम जरूर सपना देख रहे हो। वह आदमी तो कभी का चला गया। वह तिजोरी की चाबी के बारे में कुछ कह रहा था। वह कहीं खो गई है।'

पक्षी बोला—'खो कहां जाती! वहीं लकड़ी के गोदाम में दरवाजे के पीछे एक लट्ठे के नीचे पड़ी है।'

पत्नी ने फिर कहा—'वह एक बीमार बच्चे के बारे में भी चर्चा कर रहा था। उसको अच्छा करने की कोई दवा ही नहीं मिलती।

पक्षी चिल्लाया—'सब मूर्ख हैं। अरे, पैड़ियों के नीचे जो बुखारी है, उसी में लड़की के बालों को लेकर चिड़ियों ने घोंसला बना लिया है। वे बाल लड़की को वापस मिल जाएं तो वह अच्छी हो जाएगी।'

पत्नी ने लगे हाथों तीसरी बात भी पूछ ली—'वह आदमी उस मल्लाह के बारे में भी बातें कर रहा था, जो लोगों को नदी के पार उतारा करता है। उसे ऐसा क्यों करना पड़ता है?'

पक्षी चिनचिना कर बोला—'वह निरा बुद्धू है। अरे, जब वह किसी को लेकर बीच नदी में पहुंचे, तो नाव को वहीं छोड़ कर चला जाए।'

इस प्रकार उस पक्षी की पूंछ का पर और तीनों सवालों के जवाब लेकर अगले दिन वह वापस घर की ओर लौट पड़ा। रास्ते में उसने सबको एक-एक की बातों के जवाब बता दिए। बालों के मिलते ही लड़की अच्छी हो गई। उसके मां-बाप ने किसान के बेटे को बहुत-सी चीजें भेंट में दीं। चाबी मिल जाने पर तिजोरी वाले ने भी उसको सुंदर-सुंदर उपहार दिए। लेकिन, जब वह राजा के पास पहुंचा, तो वह उसकी वीरता और दौलत को देखकर जल उठा। उसने पूछा—'तुम यह सब कहां से लाए हो?'

उसने जवाब दिया—'यह सब उस बुद्धिमान पक्षी ने ही दिया है।'

इस पर राजा ने सोचा कि क्यों न मैं भी उस पक्षी के पास जाऊं? वह चल पड़ा। चलते-चलते आखिर वह वहां पहुंचा, जहां नदी पर मल्लाह यात्रियों को पार उतारा करता था। वह राजा को नाव में बैठाकर ले चला, लेकिन जैसे ही वे नदी के बीच में पहुंचे, मल्लाह नाव से कूद पड़ा और तैर कर भाग गया।

तब से ही बेचारे राजा को उसकी जगह मल्लाह का काम करने को मजबूर होना पड़ा।

इधर जब राजा नहीं लौटा, तो किसान के बेटे ने उसकी लड़की से शादी कर ली और कालांतर में आनंद से वहां राज करने लगा। ❖

निष्काम कर्म : भौतिक-आध्यात्मिक विकास का आधार

तुम करने जा रहे हो, उससे इस अति गरीब का क्या फायदा होगा? उसी वक्त तुम्हारा भ्रम दूर हो सकेगा और तुम्हें सही मार्ग दीखने लगेगा।'

बस, बापू का दिया हुआ यही तिलिस्म हमें एक नए 'मिशन' की प्रेरणा दे सकता है। उसी के द्वारा 'परस्परं भावयन्तः' का मार्ग भी एक बार फिर प्रशस्त हो सकता है।

पृष्ठ 26 का शेष

दुनिया की तवारीख का निचोड़ यही है कि ऊंचे दरजे का मनुष्य त्याग और बलिदान की ओर आकर्षित होता है, भोग और विलास की ओर नहीं। इसी त्याग व आत्मसमर्पण से उसमें भाईचारा व बिरादरी की भावनाएं प्रस्फुटित होती हैं और वह अपने साथियों के साथ कारवां बनाकर अपने ध्येय की ओर अग्रसर होता है। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

आध्यात्मिक शिक्षा के नए सोपान

जैन धर्म और दर्शन आज के वैज्ञानिक युग में प्रासंगिक प्रमाणित हो रहे हैं। उदारवादी एवं समन्वयपरक होने के कारण जैन दर्शन अन्तरराष्ट्रीय समाज के सम्मुख उपस्थित अनेक जटिल समस्याओं का समाधान खोजने की दिशा में योगभूत सिद्ध हो रहा है। इसके दो साक्षात् प्रमाण हैं—पहला, आचार्यश्री महाप्रज्ञ की अहिंसा-यात्रा के साथ विभिन्न मतावलंबियों का व्यापक जुड़ाव है। दूसरा, भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्री कलाम की अहिंसा-यात्रा प्रणेता के साथ राष्ट्रहित एवं मानव-कल्याणमूलक संयुक्त कार्य योजना हेतु की गई पहल।

जैन धर्म, दर्शन के अनुयायी अधिकांशतः व्यवसायी वर्ग के होने के कारण इस के प्रचार क्षेत्र में यथोचित सक्रिय भूमिका का निर्वहन नहीं कर पाए एवं फलस्वरूप इसकी जानकारी व्यापक स्तर पर नहीं हो सकी। यहां तक कि दार्शनिक जगत् में जैन धर्म के स्वतंत्र अस्तित्व को नकार कर इसे अन्य धर्म की एक शाखा के रूप में समझा गया।

पिछले वर्षों में इस क्षेत्र में कुछ प्रयास एवं कार्य भी हुए। फलतः वर्तमान में विश्व में अनेक स्थलों पर इस क्षेत्र में अध्ययन और शोधकार्य चल रहे हैं। किंतु अनेक स्थानों पर जैन विद्वानों की अनुपलब्धता के कारण कार्य में अवरोध भी आ रहे हैं। युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ की प्रेरणा एवं आशीर्वाद से महासभा इस दिशा में कार्य करने हेतु संकल्पित हुई है। इसकी फलश्रुति के रूप में पहला कार्य हुआ समाज-भूषण श्रीचंद रामपुरिया स्मृति व्याख्यानमाला—'बोधि' का सुप्रारंभ। समाज-भूषण के सर्वोच्च अलंकरण से सम्मानित जैन दर्शन मनीषी स्व. श्रीचंदजी रामपुरिया ने स्वयं जैन विद्या के क्षेत्र में अपने जीवनकाल में सृजनात्मक कार्य कर समाज को अनेक सेवाएं प्रदान की थी।

इस व्याख्यानमाला के अंतर्गत जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन संबंधी निर्धारित विषय पर मासिक व्याख्यान की प्रस्तुति आमंत्रित विद्वान वक्ता द्वारा दी जाती है। इसके माध्यम से दार्शनिक जगत् से जुड़े अनेक जैन एवं जैनेतर प्रबुद्धजनों से संपर्क स्थापित हुए हैं एवं जैन दर्शन के अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार कार्य को बल मिला है।

इस क्रम में अब तक पांच संगोष्ठियां आयोजित हुई हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

विषय	*वक्ता*
नमस्कार महामंत्र	*डॉ. मंजु नाहटा*
अनेकांतवाद—सामाजिक सह-अस्तित्व : वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में	*प्रो. अरुण मुखर्जी*
प्राचीन भारतीय मुद्राओं में जैन वणिक वर्ग की सहभागिता	*प्रो. समरेश बंदोपाध्याय*
जैन दर्शन में लोक का स्वरूप	*डॉ. समणी चैतन्यप्रज्ञा*
जैन विद्या एवं विज्ञान	*प्रो. महावीरराज गेलड़ा*

उच्चकोटि के जैन विद्वान तैयार करने हेतु जैन विश्व भारती संस्थान के सहयोग से 'आचार्य महाप्रज्ञ स्कूल ऑफ फिलॉसफी एंड रिलीजन' की शुरुआत महासभा के अंतर्गत की गई है। इसके तत्त्वावधान में जैन दर्शन में विशेष एवं उच्च स्तरीय अध्ययन में रुचि रखने वालों एवं शोधकर्ताओं के अध्ययन हेतु सुव्यवस्थित प्रशिक्षण कक्षाओं का संचालन किया जा रहा है। प्राकृत भाषा के प्रारंभिक अध्ययन की कक्षाएं भी 'भिक्षु ग्रंथागार' के अंतर्गत संचालित की जा रही हैं।

महासभा के द्वारा अन्य सभा-संस्थाओं को भी उपरोक्त क्षेत्र में सलक्ष्य कार्य करने हेतु प्रेरित किया जा रहा है। हम आशा करते हैं इस प्रकार जनहितकारी जैन दर्शन के अध्ययन और शोध हेतु एक वातावरण निर्मित होगा एवं जैन विद्वानों को तैयार कर आगे लाने का मार्ग प्रशस्त होगा एवं हम हमारे लक्ष्य की ओर गतिमान हो सकेंगे।

—तरुण सेठिया

महामंत्री

With Best Compliments From :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, Bangalore 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

जैन भारती, अगस्त, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Your Partner in Progress

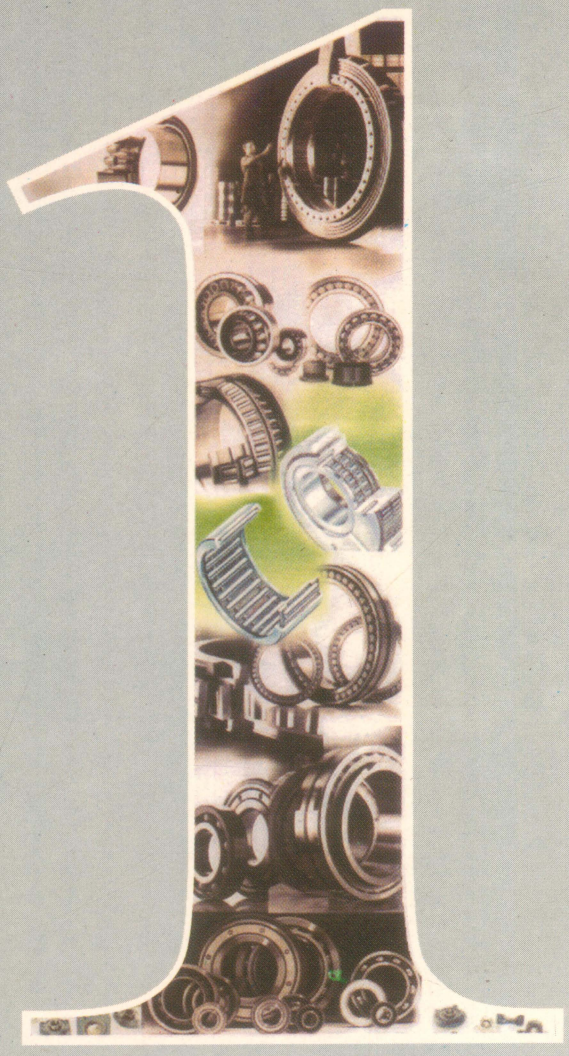

India's No. 1 Company for Bearing Distribution and Shaft solution

INA
Authorised Distributor

Premier (India) Bearings Ltd.

407 & 413 Marshall House, 4th Floor, 25, Strand Road, Kolkata - 700001
Phone : 2220 0640/1926, Fax : (033) 2248 5745
E-mail : pibl@vsnl.com

FAG Star Distributor

Our Branches Office : • Chennai • Mumbai • Chandigarh • Gurgaon • Kochi • Ludhiana

Website : http://www.mahadealer.com

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।